जीवन दर्शन



वर्ष ६

अङ्क १०



विषय-सूची



क्र. सं.	विषय		लेखक	पृ. सं.
१.	सन्त स्वभाव	....	—	१
२.	जीवन में विवेक के आदर का स्थान	....	सन्त-वाणी	५
३.	करुणावत्सल [कविता]	....	श्री कृपाशंकर लाल श्रीवास्तव	१५
४.	परम भागवत सेन	...	एक मानव	१६
५.	जटायु का अमर बलिदान	....	प्रो० श्री शिवानन्दजी	२०
६.	देखी बरात अनदेखा घराती	....	श्री महेन्द्र कुमार कौल	२३
७.	साधक का जीवन [कविता]	....	श्री कन्हैयालाल जी दूगड़	२६
८.	लोहा और चुम्बक	...	कैप्टेन एस० एम० चन्द्रा	२७
९.	निर्बल की पुकार [कविता]	....	श्री मलखान सिंह जी	२९
१०.	मानव धर्म	...	(साभार "अखण्ड आनन्द" से)	३०
११.	सन्त-प्रवर सहल तस्तरी के सदुपदेश	....	—	३१
१२.	साधकोपयोगी बातें	...	श्री जीवन राम जी	३४
१३.	सन्त पत्रावली	....	—	३७
१४.	उदारता की प्रतिमूर्ति डिडेरो	....	संकलित	३९



विवेक का आदर तथा बल का सदुपयोग विकास की भूमि है ।

जीवन-दर्शन

उद्देश्य

मानव-जाति के सर्वतोमुखी विकास की तथा कर्तव्य-परायणता एवं साधन--निष्ठ जीवन की प्रेरणा देना ।

वर्ष ६] वृन्दावन, अक्तूबर १६७१ [अंक १०



सन्त स्वभाव

कृपालुरकृतद्रोहस्तितिक्षुः सर्वदेहिनाम्,
सत्यसारोऽनवद्यात्मा समः सर्वोपकारकः ।
कामैरहतधीर्दान्तो मृदुः शुचिरकिंचनः,
अनीहो मितभुक् शान्तः स्थिरो मच्छरणो मुनिः ।
अप्रमत्तो गभीरात्मा धृतिमाञ्जितषड्गुणः,
अमानी मानदः कल्पोमैत्रः कारुणिकः कविः ।

श्रीमद्भागवत ११. ११. २६—३१.

अर्थ--मेरा भक्त सब प्राणियों के प्रति कृपालु, द्रोहरहित तथा सहनशील होता है । वह सत्य का सार, निर्दोष, सम और सबका उपकार करने वाला होता है ।

वह सदा मेरी शरण में रहता है । उसकी बुद्धि कामनाओं से प्रताड़ित नहीं होती । वह संयमी, कोमल स्वभाव वाला, पवित्र, अकिंचन, इच्छारहित, मिताहारी, शान्त, स्थिर और ज्ञानी होता है ।

वह अप्रमत्त, गंभीर स्वभाव वाला, धैर्यवान् तथा छः गुणों को जीतने वाला होता है । स्वयं अमानी, पर दूसरों को मान देनेवाला होता है । वह कर्तव्य पालन में योग्य और समर्थ, सब का मित्र, कारुणिक तथा तत्त्वज्ञ होता है ।

व्याख्या—मानव-जीवन का यह सौन्दर्य है कि वह सभी के लिए उपयोगी हो सकता है, पर उसे यह सौन्दर्य प्राप्त होता है उसमें मानवता का पूर्ण अभिव्यक्ति से ही। यह अभिव्यक्ति होती है साधन-सम्पन्न होने पर। साधनमय जीवन के मार्ग की एकमात्र बाधा है असाधन या असत् का संग। विवेक हमें बताता है कि संसार में न कुछ अपना है, न अपने लिए, पर फिर भी हम उसकी ममता-कामना से बँधे रहते हैं और संसार के ही एक अंग अर्थात् शरीर में अहंभाव कर परिच्छिन्न बन जाते हैं। यही है असत् का संग, जो कारण बन जाता है असाधन-युक्त जीवन का और मानव में विद्यमान मानवता को अभिव्यक्त नहीं होने देता। जो साधक अपने विवेक का आदर कर या भगवच्छ-रणागति का आश्रय पकड़ अहन्ता, ममता और कामना से मुक्त हो जाते हैं, उन्हीं में मानवता का पूर्ण विकास होता है। उनमें सारे मानवीय गुण स्वतः अभिव्यक्त हो जाते हैं। उन्हें ऊपर से भरना नहीं पड़ता, न उनके लिए कोई अभ्यास ही करना होता है। वे उन महामानवों का स्वभाव ही बन जाते हैं। ऐसे महापुरुष ही सन्त या महात्मा के नाम से संसार में प्रसिद्ध होते हैं। उद्धव द्वारा पूछे जाने पर भगवान श्रीकृष्ण ने उन सन्तों के जो लक्षण अपने अन्तिम उपदेश में उन्हें बताये, वही यहाँ उद्धृत श्लोकों में कहे गये हैं। उद्धव भगवान के परम भक्त थे और चर्चा चल रही थी सन्त भक्तों की ही, इसलिए ये सन्त-लक्षण, यद्यपि भक्त सन्तों के ही बताये गये हैं, पर वास्तव में वे सभी सन्तों में समान रूप से पाये जाते हैं—चाहे वे भक्त सन्त हों चाहे ज्ञानी सन्त, क्योंकि साध्य से अभिन्न होने पर सभी का जीवन एकसा हो जाता है। इसीलिए श्रीमद्-भगवद्गीता में जैसे लक्षण स्थितप्रज्ञ के बताये गये हैं, वैसे ही त्रिगुणातीत के और वैसे ही भगवत्परायण भक्त के।

जिस आस्तिक साधक की आस्था में भगवान के अतिरिक्त कुछ और रहता ही नहीं, वही वस्तुतः शरणागत हो पाता है। वह चराचर जगत् में उन्हीं का दर्शन करता है, अतः वह किसी के प्रति कठोर नहीं हो सकता है। सब के प्रति दयाभाव रखना उसका स्वभाव हो जाता है। किसी के प्रति द्वेष या द्रोह रखने का तो फिर कोई प्रश्न ही नहीं। कोई उसे कितना भी दुःख दे, वह उसको भगवत्-इच्छा समझकर प्रसन्नता पूर्वक सहता रहता है। इस प्रकार स्वभाव से ही सबके लिए "दयालु, द्रोह-रहित और तितिक्षु" बन वह सब

के उपकार में लगा रहता है—"सर्वोपकारकः।" ऐसे दयामय सन्त का हृदय बड़ा कोमल—"मृदुः"—होता है। वह किसी का दुःख देख विना द्रवित हुए रह ही नहीं सकता। इसलिए करुणा का स्रोत निरन्तर उसके हृदय से बहता रहता है—"कारुणिकः"। ऐसे दयालु, कारुणिक और परोपकारी सन्त का व्यवहार सब के प्रति सदा मित्रवत् होता है—"मैत्रः"।

भगवान ही भक्त के साध्य होते हैं और वे हैं सत्यस्वरूप, इसलिए सत्य ही उसके जीवन का सार हो जाता है—"सत्यसारः"। जिसका जीवन सत्यमय हो, उसमें कभी कोई पाप, विकार या दोष रह ही नहीं सकता, वह "अनवद्यात्मा" और परम पवित्र—शुचिः—हो जाता है।

भक्त सभी में अपने भगवान का दर्शन करता है, अतः वह सब के प्रति समदर्शी होने के साथ-साथ, सब आई हुई सुखद या दुःखद परिस्थितियों को भगवान का प्रेमोपहार समझकर सब का सम भाव से स्वागत करता है—"समः"।

भोगों की प्राप्ति में जीवन मानने वालों की बुद्धि सदा कामनापूर्ति के प्रयास में ही लगी रहती है। सन्त संसार को कभी भोग-सामग्री के रूप में देखता ही नहीं, अतः उसमें संसार के भोगों के प्रति कोई आकर्षण ही नहीं होता। वह तो भगवान के नाते जगत् की सेवा ही करता है और अपने लिए भगवान के अतिरिक्त कुछ चाहता ही नहीं, अतः उसमें कामनाएं उत्पन्न ही नहीं होतीं और इसलिए उनके द्वारा उसकी बुद्धि के प्रताड़ित होने का कभी अवसर ही नहीं आता। वह सदा सम बुद्धि वाला—"कामैरहतधीः"—बना रहता है और जिसमें कामनाएं नहीं, उनकी पूर्ति का कोई प्रयास नहीं, वह "अनीह" रहता ही है। शरीर-रक्षा के लिए जितना आवश्यक होता है, वह केवल उतना ही ग्रहण करता है, इसलिए वह "मितभुक"—मिताहारी और संयमी—"दान्तः"—हो ही जाता है।

कामनाओं का प्रवाह, उनकी पूर्ति-अपूर्ति का चक्कर और तज्जनित सुख-दुःख तथा संघर्ष ही मानव-मानस को अशान्त और अस्थिर रखते हैं। आप्तकाम होने के कारण सन्त सदा "शान्त" और "स्थिर" रहते हैं, वे स्थितप्रज्ञ हो जाते हैं। स्थितप्रज्ञ गंभीर स्वभाव वाला—"गभीरात्मा" और धैर्यवान्—"धृतिमान्"—होता ही है, अतः वह किसी भी परिस्थिति में विचलित नहीं होता।

स्थितप्रज्ञता में कार्य-कुशलता निहित होती है। अस्थिर बुद्धिवाला, सफलता-विफलता से विचलित होने वाला, कामनाओं का दास और राग-द्वेष से प्रेरित होने वाला कभी कर्तव्य का ठीक-ठीक पालन कर ही नहीं सकता। स्थितप्रज्ञता से प्राप्त समत्व भाव ही योग है—"समत्वं योग उच्यते" और योगयुक्त में ही कर्तव्य के सही पालन की सामर्थ्य तथा योग्यता होती है—"योग: कर्मसु कौशलम्," इसलिए स्थितप्रज्ञ सन्त ही कर्तव्यपालन में सामर्थ्यवान् और योग्य—"कल्प:" होता है। परिस्थितियों का दास न होने के कारण छः गुणों—भूख-प्यास, शोक-मोह और जन्म-मृत्यु—का उसपर कोई प्रभाव नहीं होता। वह किसी भी दशा में किसी भी प्रकार विचलित या भयभीत नहीं होता। अत: वह स्व कर्तव्य में प्रमाद करहीं नहीं सकता—"अप्रमत:"।

भक्त में कामनाओं की भाँति ममता का भी नितान्त अभाव होता है। संसार में उसका अपना कुछ नहीं रहता, शरीर, मन, बुद्धि आदि भी भगवत्समर्पित हो जाते हैं, इसलिए सच्चे अर्थ में वही अकिंचन होता है। ऐसे अकिंचन में किसी प्रकार का अभिमान तो रह ही नहीं सकता, इसके साथ ही निष्काम होने के कारण वह किसी के मान-आदर का भूखा भी नहीं होता, अत: वह स्वयं तो "अमानी" होता है, पर सब को भगवत्स्वरूप समझने के कारण वह उन्हें पूरा मान देता है—"मानद:"।

भगवान ज्ञानस्वरूप हैं। उनसे अभिन्न होने पर भक्त भी बोधस्वरूप हो जाता है, अतः वह यथार्थत: ज्ञानी और तत्त्वज्ञ—"मुनि: कवि:"—हो जाता है।

ऐसे स्वभाव वाले सन्त ही सब के लिए उपयोगी होते हैं—अपना वास्तविक जीवन प्राप्त कर वे स्वयं कृत-कृत्य हो जाते हैं, अपने सेवामय जीवन से वे संसार के लिए प्रकाश-स्तम्भ बन जाते हैं और अपने प्रेममय अस्तित्व से वे अपने प्रियतम को रस प्रदान करते हैं।

सन्त-वाणी:—

जीवन में विवेक के आदर का स्थान

[गतांक से आगे]

जब आप अपने जाने हुये असत्य के त्याग का संकल्प करेंगे, तो सबसे पहला विकास यह होगा कि आपके जीवन में से अनावश्यक और अशुद्ध संकल्पों का नाश हो जायगा। आपका जो यह मानव-जीवन है उसमें आवश्यक और शुद्ध संकल्प भी होते हैं और अनावश्यक व अशुद्ध संकल्प भी होते हैं। अनावश्यक और अशुद्ध संकल्पों का नाश तो जाने हुए असत्य के त्याग से अपने आप हो जायगा, उसके लिए कोई परिस्थिति हेतु नहीं है, कोई बाह्य वस्तु हेतु नहीं है, कोई व्यक्ति हेतु नहीं है कि जिसके आश्रय से हम अनावश्यक और अशुद्ध संकल्पों का नाश करें। उसके लिए तो आपके जाने हुए असत् का त्यागरूपी सत्संग ही एकमात्र हेतु है। अनावश्यक और अशुद्ध संकल्पों का जब नाश हो जाता है, तब अपने आप आवश्यक और शुद्ध संकल्प पूरे होने लगते हैं। आवश्यक संकल्प पहले पूरे होते हैं और शुद्ध संकल्प उसके बाद पूरे होते हैं।

ऐसा क्यों होता है, इसे समझने के लिए पहले यह सोचिये कि आवश्यक संकल्प कहते किसको हैं। आवश्यक संकल्प उसको कहते हैं कि जिसका सम्बन्ध वर्तमान से हो, जिसके पूरे होने की परिस्थिति स्वतः प्राप्त हो और जिसके बिना किये किसी प्रकार हम रह न सकें। इसी प्रकार के संकल्प आवश्यक संकल्प हैं। ये तीन बातें आवश्यक संकल्प में होती हैं—जिसका सम्बन्ध वर्तमान से हो, जिसे करने के साधन प्राप्त हों और जिसको पूरा किए बिना किसी प्रकार रह न सकें। अच्छा भाई, और शुद्ध संकल्प उसे कहते हैं कि जिससे किसी का अहित न हो,

किसी और का किसी प्रकार का अहित न हो। तो जब आवश्यक संकल्प पूरा हो जाता है और अनावश्यक संकल्प मिट जाता है, तब प्रत्येक संकल्प की पूर्ति के अन्त में स्वभाव से ही, अपने आप निःसंकल्पता आती है और ऐसी बात नहीं है कि वह निःसंकल्पता हिन्दू में आती हो और मुसलमान में न आती हो, ईसाई में आती हो, पारसी में न आती हो, ईश्वर वादी में आती हो, अनीश्वर वादी में न आती हो। प्रत्येक वर्ग के व्यक्ति में, मनुष्य-मात्र में आवश्यक संकल्प की पूर्ति के अन्त में निःसंकल्पता अपने आप आती है और यह जो निःसंकल्पता है वह प्राकृतिक नियम के अनुसार सत्य के साथ मिलाने वाली स्थिति है, मिलने वाला काल है, यानी यह वह काल है कि जब मानव अपने में वर्तमान सत्य से, सर्वदा रहने वाले सत्य से मिलता है, वह मिलने के लिए एक दरवाजे के समान है। वह एक अन्तिम साधन है कि जब प्राणी निःसंकल्प स्थिति में स्वभाव से रहने लगता है।

आज हमारी दशा यह होगयी है कि मन को निःसंकल्प करने के लिए हम मन को किसी काम में लगाते हैं, अथवा उसे डाटते-फटकारते हैं, उसकी निन्दा करते हैं, उसे दबाते हैं। यह उपाय उस छोटे से बालक के समान है कि जो भय के कारण थोड़ी देर के लिए चुप हो जाता है, परन्तु वही दवी हुई चंचलता उसके मन में वहुत जोर से अंकित हो जाती है और समय पाकर वह बड़ा उपद्रवी बालक हो जाता है। मुझे अपने एक मित्र के वालक की वात मालूम है। वह जब एक ऋषिकुल में पढ़ता था, तो वहाँ मिर्च न खाने का नियम था और उस बालक को मिर्च खाने की स्वाभाविक रुचि थी। कुछ दिन तो उसने चुरा कर मिर्च खाने का प्रयास किया, परन्तु प्रबन्ध में कड़ाई होने पर जब वेचारा बालक सफल नहीं हुआ, तव उसने ऊपर से गिर कर अपने चोट लगा ली, इसलिए कि चोट लगने से, किसी तरह इस जेल-खाने से मुक्त हो जाऊँ। यह बिल्कुल बालक के मुँह की कही वात कहता हूँ। आज तो वह लड़का बहुत समझदार लड़कों में है, वड़ा योग्य लड़का है और बड़े सभ्य परिवार का लड़का है। जब चोट लगाकर वह घर गया, तव उसको वह आजादी मिली। जिस तरह एक बालक के मन से आप बलपूर्वक बुराई का त्याग नहीं करा सकते, उसी प्रकार आपका अपना मन है, जिसकी हम और आप निरर्थक ही दिन रात निन्दा करते हैं, परन्तु बल-पूर्वक उसे निःसंकल्प नहीं वना सकते। उसे निःसंकल्प बनाने का

तरीका तो यह है कि जो आवश्यक संकल्प हों उनको पूरा कर डालिये, और जो अनावश्यक संकल्प मालूम पड़ें, उनके त्याग का प्रयास कीजिये। इस प्रकार अपने ज्ञान के अनुसार हर चीज की असलियत को जान कर, समझ बूझ कर, मन को निःसंकल्प करने का आप प्रयास करें, तब तो मन निःसंकल्प हो सकता है। परन्तु तेईस घंटे तो आप परवाह नहीं करते और सायं-प्रातः जब नित्यकर्म करने बैठते हैं, या संध्या-पूजा आदि करने बैठते हैं, या विश्राम करने बैठते हैं, तब सोचते हैं कि तेईस घंटे हमने चाहे जो कुछ किया हो, पर अब एक घंटे हमारा मन निःसंकल्प हो जाय! मेरे भाई, यह कभी संभव नहीं, कभी सम्भव नहीं। जैसा जीवन आपका अधिक दिन तक रहा है वैसा ही जीवन उस समय भी प्रकट होता है कि जब आप अपने मन को शान्त करने की बात सोचते हैं, निःसंकल्प करने की बात सोचते हैं। इसलिए यह अत्यन्त आवश्यक है कि हमारे जीवन के जितने अंग हैं, जितनी प्रवृत्तियाँ हैं, जितने पहलू हैं, उन सभी में मानवता का प्रकाश हो, हर पहलू मानवता से परिपूर्ण हो।

जब आपके जीवन से अनावश्यक प्रवृत्ति निकल जायगी तब आवश्यक संकल्प अपने आप पूरे हो जायंगे। परन्तु भाई, आवश्यक संकल्प-पूर्ति-जनित जो सुख है यदि उसका आपने भोग कर लिया, तो नवीन संकल्प उत्पन्न हो जायगा और संकल्प-पूर्ति-जनित जो सुख है वह आपको पराधीन बना देगा। बड़े से बड़ा व्यक्ति हो—चाहे दर्शन कार हो, चाहे विज्ञान-वेत्ता, चाहे कलाकार हो, चाहे समाज में उसे ऊँचा से ऊँचा पद प्राप्त हो—यदि उसने यह सोच लिया है कि संकल्प-पूर्ति में ही सब कुछ है, तो वह स्वाधीनता का दर्शन कभी नहीं कर सकता, कितना ही शक्तिशाली वह क्यों न हो। पर जिसने यह तय कर लिया है कि संकल्प-पूर्ति जीवन का एक अंग भले ही हो, परन्तु वह पूर्ण जीवन नहीं है, ऐसा व्यक्ति कितना ही दीन-हीन क्यों न हो, वह बड़ी ही सुगमतापूर्वक स्वाधीनता के पथ पर अग्रसर हो सकता है।

आज हम लोग सोचते हैं कि अगर हमारे पास अच्छे २ मकान होते, पूरा जरूरी सामान होता, तो हमारा मन शान्त हो जाता। मैं उन भाई-बहनों से पूछता हूँ, जिनके पास अच्छे-अच्छे मकान भी हैं और जरूरत से ज्यादा सामान भी मौजूद है, वे जरा बतावें तो सही कि उनका मन कैसा है, परन्तु इसको तो हम

देखते नहीं, अपने ही पैमाने से नापते हैं। मुझसे एक भाई कहने लगे—बड़े पढ़े-लिखे व्यक्ति थे—'महाराज, क्या बताएं, जो बेईमानी करते हैं, वे सफल होते हैं।' मैंने स्वभाव से पूछ लिया कि आप क्या बता सकेंगे कि आप किस बेईमानी द्वारा सफल हुए। तो अपने को सामने रखकर कोई नहीं कहता, दूसरे को ही सामने रखकर सब कहते हैं कि अमुक व्यक्ति ने बेईमानी की और वह सफल हुआ। अपने जीवन के आधार पर कोई यह कहने को राजी नहीं होता कि मैंने यह बेईमानी की और मुझको सफलता प्राप्त हुयी। मुझसे तो एक भाई ने कहा कि मैं जब इंजीनियर था तब रिश्वत लेता था। उसने बड़ी सचाई के साथ कहा कि जब मैं कोई रिश्वत ले लेता था, तो कम से कम ६ महीने तक तो मुझे यह भय रहता था कि इसका भेद कहीं खुल न जाय। और उसके बाद उसने कहा कि थोड़े दिन के बाद मेरी स्त्री मर जाती थी--उस समय उसकी तीसरी स्त्री थी और लड़का तो कोई था ही नहीं। परन्तु यह बात नहीं कि सभी रिश्वत लेने वालों के साथ ऐसा होता ही हो। बहुत से रिश्वत लेने वालों की स्त्रियाँ मौजूद हैं। उसने यह भी कहा कि जबसे मैंने रिश्वत लेना छोड़ दिया, तब से मेरी स्त्री नहीं मरी, बच्चा भी पैदा हो गया और तरक्की भी होगई। यह मैं एक व्यक्ति की बात कहता हूँ, कोई भाई-बहन यह न समझ बैठें कि मेरा ऐसा मत है कि जो रिश्वत लेते हैं उनके बच्चे नहीं होते। आप कहेंगे कि ऐसे लोग भी आपको मिलेंगे कि जो रिश्वत लेते हैं और जिनके दर्जनों बच्चे भी हैं। तो स्त्री के मर जाने और बच्चे के पैदा न होने की बात सिद्धान्त रूप से नहीं कही जा सकती, परन्तु इतनी बात तो आपको माननी ही होगी कि रिश्वत लेने वालों के मन में भय, चिन्ता और अशान्ति तो रहती ही है, इसे तो कोई भी अस्वीकार नहीं कर सकता।

मेरे भाई, बुराई के द्वारा कोई भी सफल नहीं होता, और भलाई के द्वारा भी, यदि आप संकल्प-पूर्ति में ही अपने जीवन का सर्वस्व मान लेते हैं, तो आपको निःसंकल्पता नहीं मिलेगी और जब तक निःसंकल्पता नहीं आती, तब तक आपका अपना कोई अस्तित्व ही सिद्ध नहीं होता; क्योंकि संकल्प-पूर्ति के जीवन में उन्हीं साधनों का अस्तित्व सिद्ध होता है जिनसे संकल्प पूरा होता है। मेरे एक मित्र हैं—बड़े सज्जन, बड़े उदार हैं, मेरे मन में उनके प्रति बड़ी श्रद्धा है। जब खाने-पीने की चर्चा होती है तब--मालूम है

कि उन्हें याद किसकी आती है—अपनी माँ की नहीं, पिता की नहीं, बल्कि उस ग्वाले की याद आती है जो तीन घंटे में सुन्दर दही जमा कर उन्हें खिलाता था। इससे आप क्या समझे, क्या तात्पर्य निकला कि संकल्प-पूर्ति में ही जो अपना सारा जीवन व्यतीत करना चाहते हैं, वे कभी भी स्वाधीनता का दर्शन नहीं कर पाते। यह एक प्राकृतिक सत्य है और सबके लिए सत्य है। भाई, कोई ईश्वरवादी कहे, कोई अनीश्वरवादी कहे कि मेरा यह सत्य नहीं है, तो ऐसी बात नहीं, यह सभी के लिए विधान है। भौतिकवादी के लिए भी यही विधान है, अध्यात्मवादी के लिए भी वही विधान है। जो भाई, जो बहन, संकल्प-पूर्ति में ही सब कुछ मानेंगे, वे सदैव पराधीनता की बेड़ी में जकड़े रहेंगे, ऊपर से सुन्दर कपड़ा शरीर पर होगा, सुन्दर पलंग पर सोये होंगे, बिल्डिंग भी बढ़िया होगी, टेलीफोन भी चारों ओर लगे होंगे, सुविधा के सभी साधन होंगे, लेकिन भीतर से उनका जीवन एक रोगी से अधिक कुछ भी नहीं होगा।

कहने का मेरा तात्पर्य यह है कि आवश्यक संकल्पों की पूर्ति तो स्वाभाविक है, शुद्ध संकल्पों की पूर्ति तो स्वाभाविक है, परन्तु उन संकल्पों की पूर्ति के सुख का भी हमें भोग नहीं करना है, क्योंकि यह हमारा आपका जाना हुआ असत् है कि संकल्प-पूर्ति से उन साधनों का ही महत्त्व बढ़ता है कि जिनसे संकल्प पूरे होते हैं, उनसे अपना कोई महत्त्व नहीं बढ़ता, अर्थात् संकल्प-पूर्ति में प्राणी पराधीनता में ही आवद्ध रहता है और संकल्प-निवृति में? संकल्प-निवृति का जीवन, भाई, संकल्प-पूर्ति की अपेक्षा तो बहुत ऊँचा है, इसमें लेशमात्र भी सन्देह की बात नहीं, लेकिन संकल्प-निवृति में अहम् का महत्त्व बढ़ता है। हम लोग तो साधक हैं न, बहुत से साधक कहते हैं, भाई, हमको तो कोई तकलीफ नहीं होती, हम तो प्रत्येक दशा में रह लेते हैं, हमको तो कुछ नहीं चाहिए, यानी उनका अहम् इतना बलवान हो जाता है कि उस समय वे ईश्वर को भूल जायें, आत्मा को भूल जायें, जगत् को भूल जायें, परन्तु अपनी महिमा को नहीं भूलते, यानी उनका अहम् इतना मजबूत हो जाता है, इतना सबल हो जाता है, मानो वे विश्व-विजयी हो गये हों, क्योंकि उन्हें कुछ चाहिए ही नहीं। तो भाई संकल्प-निवृति से अहम् का महत्त्व बढ़ता है, परन्तु जिसके लिए उस अहम् को, और संकल्प के सुख को भी निछावर कर सकते हैं, उसे सत्य कहते हैं। वह

सत्य किसको मिलता है ? जो संकल्प-निवृति को प्राप्त तो कर लेते हैं, लेकिन उसकी शान्ति में रमण नहीं करते, उसका महत्त्व नहीं आँकते। अगर हम कुछ नहीं चाहते, तो इसमें ऐसी कोई बात नहीं कि जिसके लिए हमारी प्रशंसा हो। परन्तु आजकल दशा क्या है ? अगर कोई व्यक्ति थोड़ा ईमानदार हुआ, तो वह समझता है कि मुझमें एक वड़ी भारी विशेषता आगई। अरे भाई, यह ईमानदारी की विशेषता तो बेईमानी की दृष्टि में है। अगर कोई आदमी सत्य बोलता है और अहंकार करता है इस बात का कि मैं बड़ा सत्यवादी हूँ, तो मेरे भाई, यह तो किसी भूठ बोलने वाले से कहो। तुम्हारी महिमा भूठ बोलने वाले पर निर्भर है, अगर कोई भूठ नहीं बोलता है, तो सत्य बोलने में विशेषता की बात क्या है ? ऐसे ही अगर कोई बेईमान नहीं है तो तुम्हारी ईमानदारी में विशेषता की वात क्या है ? तो हम जरा-जरा से गुणों को सामने रखकर मिथ्या अभिमान में आवद्ध होते रहते हैं, सोचने लगते हैं कि हमारा मजहब कितना अच्छा है, हमारा सम्प्रदाय कितना अच्छा है, हमारा जीवन कितना सुन्दर है, परन्तु यह आपके देखने का नहीं है, क्योंकि आप अपनी जो सुन्दरता अपने में अपनी बुद्धि से देखते हैं, अपने स्वभाव से अपने में देखते हैं, वह अनन्त सुन्दरता के सामने नहीं के समान है। तो क्यों, मेरे भाई, इस सीमित सुन्दरता में आबद्ध होकर अपने अहम् को सबल बना कर अनन्त सौन्दर्य से विमुख होते हो ?

जीवन का दूसरा पहलू क्या है ? संकल्प-निवृति की जो शान्ति है, जो महत्त्व है, उसमें भी हम रमण न करें। जो प्राणी संकल्प-निवृति में भी रमण नहीं करता और संकल्प-पूर्ति के सुख में भी रमण नहीं करता, वह प्राणी, सच पूछिये तो सत्य का जिज्ञासु हो जाता है, अथवा यों कहो कि सत्य उसे स्वयं अपना लेता है। क्यों ? एक वात सोचो, भाई, वड़ी गम्भीरता से सोचने की वात है, और प्रत्येक मत, सम्प्रदाय और विचार-धारा के व्यक्ति के लिए सोचने की वात है, कि जिसमें अनन्त सौन्दर्य हो, अनन्त ऐश्वर्य हो, अनन्त माधुर्य हो, यानी जो सवसे सुन्दर (महिमा वान) हो उसको आप कैसे प्राप्त कर सकते हैं ? अनन्त बल को सीमित वल से प्राप्त नहीं कर सकते। तात्पर्य यह निकला कि जो अपने से सुन्दर है, उसकी प्राप्ति का साधन यह हो सकता है कि हम उसके हो जायँ, उसको अपना मानलें, किसी और के

होकर न रहें, अपने आपको उसको समर्पित कर दें। इसके अतिरिक्त बड़े से बड़ा सद्गुण सम्पन्न, सामर्थ्यवान से सामर्थ्यवान और विश्व में अनुपम तथा अद्वितीय ही चाहे कोई व्यक्ति क्यों न हो, परन्तु, भाई मेरे, अनन्त को प्राप्त करने के लिए उसे अपने अहम् को, अपने व्यक्तित्व को, अपने सीमित गुणों को भूलना ही पड़ेगा, निछावर करना ही पड़ेगा, छोड़ना ही पड़ेगा। तब कहीं वह अनन्त से अभिन्न हो सकता है।

इस दृष्टि से हम और आप विचार करें तो दैनिक सत्संग के द्वारा, व्यक्तिगत सत्संग के द्वारा, प्रत्येक भाई, प्रत्येक बहन, अपने को इतना सुन्दर बना सकती है कि वह समाज के लिए विधान बन जाय, और वह स्वयं अनन्त से अभिन्न हो जाय। यही तो जीवन है—ऐसा ज़ीवन कि जिसमें हमारे द्वारा होने वाली प्रवृत्तियाँ समाज के लिए विधान बन जायँ और हम उन सीमित सुन्दरताओं से, सीमित गुणों से, सीमित बलों से मुक्त होकर अनन्त के साथ अभिन्न हो जाँय। आप कहेंगे कि मैंने जो कल्पना की कि किसी में अनन्त सौन्दर्य भी है, अनन्त माधुर्य भी है, उसे तो हम मानते ही नहीं; तो इसमें कोई आपत्ति की बात नहीं। सत्य उसे नहीं कहते कि जो आपके मानने से तो रहे और न मानने से न रहे। मैं आपसे एक प्रश्न पूछना चाहता हूँ कि आप ऊँची से ऊँची किसी ऐसी परिस्थिति की कल्पना कीजिये, ऐसी अवस्था की कल्पना कीजिये कि जिससे आपको अरुचि तो न हो और जिससे आगे आप न बढ़ना चाहते हों। कोई व्यक्ति ऐसी परिस्थिति की कल्पना कर ही नहीं सकता कि जिस में सदैव रहते हुए वह यह कह सके कि अब इससे आगे मुझे कुछ नहीं चाहिए। वैसे तो आप कहेंगे कि एक साधारण आदमी भी जब भोजन करने बैठता है, तब कह देता है कि मुझको अब भोजन नहीं चाहिए, पर यह बात वैसी नहीं है, कोई ऐसा नहीं कह सकता कि मैं अमुक परिस्थिति में, अमुक अवस्था में, अमुक प्रकार से रहना चाहता हूँ और उससे आगे मुझे कुछ नहीं चाहिए, किसी भाई के मन में, किसी बहन के मन में ऐसी परिस्थिति, ऐसी अवस्था की कल्पना ही नहीं होती कि जिसके लिए कोई यह सोच ले कि मुझमें इससे आगे बढ़ने की रुचि ही नहीं है। यदि आप जीवन के क्रम का अध्ययन करें तो आपको मानना पड़ेगा कि पहले आप सोचते हैं कि जब यह चीज मिल जायगी तब आप सुखी हो जायेंगे, और जब वह मिल

जाती है तब आप एक और नई चीज के बारे में सोचते हैं, क्योंकि यह नियम ही है, भाई, कि कितना ही अच्छा संकल्प हो, कितना ही महान् आपका संकल्प हो, कितनी ही ऊँची आपकी कल्पना हो, मान्यता हो, परन्तु जिस समय आप अपनी कल्पना की उस परिस्थिति को प्राप्त कर लेते हैं, तुरन्त, अपने आप परिस्थिति-परिवर्तन की बात मन में आ जाती है, और, वह इसलिए आ जाती है कि हमारी और आपकी जातीय एकता अनन्त से है, सीमित से नहीं, नित्य से है अनित्य से नहीं, चिन्मय से है जड़ से नहीं, स्वयं-प्रकाश्य से है पर-प्रकाश्य से नहीं, आनन्द से है सुख-दुख से नहीं।

इसलिए भाई मेरे, हमारे सबके लिए यह आवश्यक हो जाता है कि हम अपने ज्ञान के प्रकाश में व्यक्तिगत सत्संग करें। आज एक साधक मुझसे कह रहे थे कि जब हम सामूहिक सत्संग करते हैं तो पारस्परिक विचार-विनिमय तो ठीक चलता नहीं, इधर-उधर की चर्चा होने लगती है। मैंने कहा कि इसके विषय में सोचूंगा, विचार करूँगा कि इधर-उधर की चर्चा हम लोग क्यों करते हैं। इसका कारण यह है कि हम लोग जब सत्संग करने आते हैं तो व्यक्तिगत सत्संग नहीं करते, अपने जीवन पर अपने आप अध्ययन नहीं करते, अपनी समस्याओं पर स्वयं नहीं सोचते, और इसलिए हम अपनी समस्याओं के सम्बन्ध में परिचित ही नहीं होते। और जब परिचित ही नहीं होते तो प्रथा के अनुसार सत्संग करने के लिए हम बैठ तो जाते हैं, परन्तु चुप बैठ सकते नहीं, शान्त रह सकते नहीं, इसलिए ऊब कर इधर-उधर की चर्चा करने लगते हैं, अथवा किसी दूसरे का परिचय देकर एक प्रकार का दिमागी-सुख लेते रहते हैं। तो भाई, व्यक्तिगत सत्संग के बिना सामूहिक सत्संग कभी नहीं होगा। इसलिए मानव सेवा संघ की नीति के अनुसार प्रत्येक व्यक्ति को दैनिक रूप से उठते समय, सोते समय व्यक्तिगत सत्संग करना चाहिए। उसका स्वरूप क्या होगा? अपने जाने हुए दोष को न दोहराने का व्रत—यह सोते समय का सत्संग है। उठते समय इस बात का सदैव ध्यान रहे कि जो कार्य आप करें उसको करते हुए जिन-जिन से उस कार्य का सम्बन्ध है उनके अधिकारों का अपहरण तो आपके द्वारा कहीं नहीं होता। अगर आपके कार्य से आपके साथियों के अधिकारों का अपहरण होगा तो आपका कार्य सीमित हो जायगा, बिगड़ जायगा। दुनियाँ में यह किसी को भी अभीष्ट नहीं है कि कोई दूसरा हमारे अधिकारों का अपहरण करे।

इसलिए भौतिक विकास के लिए भी, अपने विकास के लिए भी और सुन्दर समाज के निर्माण के लिए भी यह अनिवार्य हो जायगा कि हम जो भी कार्य करें उसके द्वारा हमारे साथियों को उतनी प्रसन्नता हो जितनी किसी के द्वारा हो सकती है। जिस चीज को हम वेचें, इस वात का ध्यान रक्खें कि कोई भी व्यापारी उससे अच्छी चीज न बेच सके। जो चीज उत्पादित करें, उसमें भी इस वात का ध्यान रक्खें कि कोई भी फैक्टरी उससे अच्छा उत्पादन न कर सके। जो कार्य करें वह इतनी सुन्दरता से करें कि उस परिस्थिति में कोई अन्य व्यक्ति उससे अच्छा कर ही न सके। इस बात की चिन्ता न करें कि आप छोटा कार्य कर रहे हैं या बड़ा कार्य कर रहे हैं। एक बात अपने सामने रखें कि जो कार्य आप कर रहे हैं उसकी आवश्यकता समाज को है या नहीं। यदि समाज को उस कार्य की आवश्यकता है, तो छोटे से छोटा कार्य भी बड़े से वड़ा कार्य है, क्योंकि कार्य की सुन्दरता से कर्ता का विकास होता है, और ऐसी बात नहीं कि छोटे कार्य से वह न होता हो। एक गिलास पानी पिला देने से उतना ही विकास हो सकता है जितना संसार के वड़े से बड़े कार्य को करने से हो सकता है; परन्तु ऐसा तभी हो सकता है कि जब वह कार्य सुन्दर हो, कर्ता का भाव पवित्र हो, लक्ष्य पर दृष्टि हो और उसके करने का ढंग भी सुन्दर हो। तो भाई, प्रत्येक परिस्थिति में हम क्रियात्मक रूप से भी सत्संग कर सकते हैं।

इन दोनों प्रकार का सत्संग करने के लिए एक तीसरी वात की वड़ी भारी आवश्यकता है, और वह इस वात की कि हम किसी को गैर न मानें। या तो सभी को अपना मानें—और अगर सभी को अपना मानने में आपको एतराज है—तो इतना मान लें, भाई, कि अपने सुख के लिए तो कोई अपना नहीं है और सेवा करने-मात्र के लिए सभी अपने हैं। इस भावना से जब हम प्रत्येक कार्य करेंगे तव वह प्रवृत्ति-काल का सत्संग हो जायगा। आप अपने साथ ऐसी कोई प्रवृत्ति नहीं चाहते कि जिससे आपके अधिकार का अपहरण होता है, तो आपके द्वारा दूसरे के साथ भी ऐसी प्रवृत्ति होनी चाहिए कि जिससे उसके अधिकार का अपहरण न हो। कार्य-काल का यह दैनिक सत्संग है। और, अपने जाने हुए दोषों का त्याग, यह विश्राम-काल का दैनिक सत्संग आप सोते समय करेंगे, उठते समय करेंगे। इस प्रकार प्रत्येक कार्य में

सत्संग करेंगे और प्रत्येक कार्य के अन्त में आप शान्त रहेंगे। तीनों प्रकार का यह सत्संग प्रत्येक भाई, प्रत्येक बहन सर्वदा कर सकती है— कार्य के अन्त में शान्ति, कार्य-काल में दूसरे के अधिकार की रक्षा और विश्राम-काल में अपने जाने हुये असत्य का त्याग। तो यह जो दैनिक सत्संग है, इसको करने से हमको और आपको सामूहिक सत्संग करने की योग्यता स्वतः आ जायगी। जब हमें सत्संग करना आजायगा, तो, आप सच मानिये—हम लोग सत् से दूर नहीं हुए हैं, विमुख हुये हैं—जिससे विमुख होते हैं उसकी प्राप्ति वर्तमान में हो सकती है। और असत्य से हम अभिन्न नहीं हुये हैं, आसक्त हुये हैं। तो जिसमें आसक्त होते हैं उसका त्याग हो सकता है, जिससे विमुख होते हैं उससे योग हो सकता है। इसलिए हम सब भाई-बहन बड़ी सुगमता पूर्वक अपने जाने हुये असत्य का त्याग करके, सत्य का संग करके कृतकृत्य हो सकते हैं।

※ समाप्त ※

—※—

काम और श्रम का अस्तित्व उसी समय तक प्रतीत होता है, जब तक प्राणी इन्द्रिय-दृष्टि पर बुद्धि-दृष्टि से विजयी नहीं होता और बुद्धि-दृष्टि के परिणाम को अपनाकर उससे विवेकपूर्वक असंग नहीं हो जाता। इन्द्रिय-दृष्टि प्राणी के चित्त में वस्तुओं के राग को अङ्कित करती है और बुद्धि-दृष्टि उस अङ्कित राग का नाश करती है, जिसके होते ही भोग योग में बदल जाता है अथवा यों कहो कि प्राणी संकल्प-पूर्ति की दासता से रहित संकल्प-निवृत्ति की शान्ति में विश्राम पाता है; किन्तु विवेक-दृष्टि प्राणी को संकल्प-निवृत्ति की शान्ति से भी असंग कर देती है, जिसके होते ही सभी अवस्थाओं से अतीत चिन्मय साम्राज्य में प्रवेश हो जाता है।

(चित्त-शुद्धि से)

करुणावत्सल

*श्री कृपाशंकर लाल श्रीवास्तव

पर-सेवा का अविचल बल दो
कर मन श्रद्धा-निर्मल,
अपनी सीमाएँ लाँघे मन,
सेवार्पित हो जीवन अनुक्षण,
तजे देह जड़ता के बन्धन,

सकल कामना-रिक्त हृदय में
उतरो हे तुम निश्छल !
अपना शक्ति-प्रवाह करो तुम
मेरे सत्कर्मों में निरुपम,
असत् तमस् से और मरण से
करो विरत जीवन-क्रम,

तुम अजेय निज कृपा-दृष्टि से
त्रिगुण-मुक्त कर उज्ज्वल !
दिव्य अन्न तुम भूखों के हित,
प्यासों हित शीतल जल,
निर्वस्त्रों के लिए वस्त्र हो,
निर्बल के शश्क्त बल,

दिव्य दया-परिपूरित कर दो,
मानस करुणा-वत्सल !



परम भागवत सेन

• एक मानव

सेन थे एक नाई, बान्धवगढ़ के प्रतापी राजा वीरसिंह के सेवक। वे नित्य नियमित रूप से राजा को तेल मलकर स्नान कराने जाया करते थे। पर भक्ति देवी ने उनकी इस नीच टहल से घृणा नहीं की, उन्हें वरण करने से इनकार नहीं किया। करतीं भी क्यों? वे तो "स्वतन्त्र सकल गुण खानी" हैं। जब वे चमार और व्याध को भी वरमाला पहना सकतीं हैं, तब नाई को अपनी जयमाला अर्पित करने में क्यों लजातीं? वे तो केवल सरल प्रेम पर रीझती हैं और जिसमें वे ऐसा प्रेम पातीं हैं, उसके किसी अन्य गुण-दोष का विना विचार किये ही झट उसके गले से लिपट जाती हैं।

सेन थे प्रेम की मूर्ति, घट-घट में अपने राम का दर्शन करते। सबको राम का रूप समझकर उन्हें पूज्य भाव से देखते थे। लोग भी इन पर निहाल थे। इनका हृदय राम की अखण्ड स्मृति से भरपूर था। राम के भक्तों की सेवा यदि इन्हें मिल जाती, तो अपना सर्वस्व न्यौछावर कर देने में वे अपना सौभाग्य मानते थे। राजा की सेवा से जो इन्हें मिलता—और खूब मिलता था इन्हें, क्योंकि राजा इनसे बहुत प्रसन्न रहते थे—उसमें से कुछ तो ये अपने परिवार के भरण-पोषण पर व्यय करते, शेष सन्त-सेवा में लगा देते।

सेन नित्य ब्राह्म मुहूर्त में उठते और नित्य कर्म से निवृत्त होकर भगवत्पूजा में लग जाते। उसके समाप्त होने पर वे राजा की टहल के लिए राज-प्रासाद को जाते थे। एक दिन जैसे ही वे अपनी वाल बनाने की पेटी लेकर राजा के यहां जाने के लिए घर से वाहर निकले कि एक सन्त-मण्डली आती हुई इन्हें दिखाई दी। सन्त-चरण-सेवा का अवसर आया हुआ देख, इन्हें इतनी प्रसन्नता हुई कि ये सब कुछ भूल गये। टहल की बेला सन्निकट है, इसका भी ध्यान उन्हें नहीं रहा। सन्त-सेवा, सत्संग और कीर्तन के आनन्द में डूब इन्होंने आत्म-स्मृति बिलकुल खोदी।

इधर राजा के स्नान का समय होगया। सेन के न आने से वे बेचैन हो रहे थे। भगवान ने भक्त की इस

नाजुक परिस्थिति को देखा—अनन्त सृष्टि का एक अणु भी तो उनकी दृष्टि से कभी छिपा नहीं रहता। उनकी भक्त-वत्सलता उमड़ पड़ी। जो द्रौपदी का चीर बन सकते हैं, उन्हें नाई बनने में क्यों संकोच होने लगा। उन्हें सेन के रूप में पेटी लेकर राजा की ड्योढ़ी पर हाजिर होने में देर नहीं लगी। न जाने किस जन्म की राजा की तपस्या-पूजा उन्हें सफल करनी थी। बड़े चतुर जो ठहरे, एक पंथ में दो काज ही नहीं, वे तो एक पंथ में अनन्त काज भी साधते हैं। आज तो उन्हें अपने एक परम भक्त को कर्तव्य-च्युति के दोष से बचाना तथा राजा को भी कृतार्थ करना ही था। वे चूके नहीं।

भगवान की सन्निधि में, उनके करकमलों का स्पर्श पाकर भी क्या कोई परमानन्द से वंचित रह सकता है? आज राजा को वही प्राप्त हो रहा था। उनका रोम-रोम प्रेमानन्द में सराबोर हो गया। भगवान ऐसी रसवर्षिणी कृपा अपने भक्तों के लिए ही किया करते हैं। एक बार ऐसी ही रसमयी लीला उन्होंने वृन्दावन में भी की थी। ब्रह्माजी के द्वारा गोवत्स और ग्वालबाल चुरा लिए जाने पर भगवान स्वयं उन सब का रूप धारण कर प्रेमरस की ऐसी बाढ़ लाये थे कि उसमें गोप, गोपियाँ और गौवें सब डूब गईं थीं। गोप-बालाएं अपने बच्चों के लिए वैसी ही पागल हो उठीं, जैसी वे श्रीकृष्ण के लिए रहा करती थीं। वही दशा गौवों की भी थी। दिन भर वे सब अपने बच्चों के लिए तड़फड़ाया करतीं और सन्ध्या को उनके आने पर आतुर होकर स्तनों से दूध तथा हृदयों से प्रेम की धारा बहाती दौड़ पड़तीं, गोपियाँ अपने बच्चों को छाती से चिपटा कर परमानन्द का अनुभव करतीं और गौवें अपने बच्चों को ऐसे चाटने लगतीं, मानो उन्हें फिर से अपने उदर में रख लेना चाहती हों। एक वर्ष तक यही लीला चलती रही थी। भगवान तो प्रेम-स्वरूप हैं। वे किसी रूप में मिलें, बिना अपने प्रेम में पागल किये वे किसी को रहने नहीं देते। आज उन्होंने अपना वह जादू राजा के ऊपर डाल दिया। वे प्रेमरस के मद में पगला उठे। न्यौछावर होगये वे सेनरूपधारी भगवान पर, बोले, "सेन, अब तुम यहीं रहा करो, मैं तुमसे बिलग नहीं रह सकता।" कौन ऐसा अभागा होगा जो भगवान को पाकर भी उनसे अलग होना चाहे?

भगवान ने सेन का काम समाप्त किया और बाल बनाने की पेटी तो वहीं छोड़ी, पर वे स्वयं महल से बाहर जाकर अन्तर्धान होगये।

राजा सेन के बिना बेहाल थे। वे एक क्षण के लिए भी उससे अलग होना नहीं चाहते थे। उस त्रिभुवन मोहन चितचोर का रूप ही जो ऐसा है। जिसे एक बार भी उसकी झाँकी मिल गई, तो फिर वह दीवाना हो जाता है उसके लिए। स्वयं शंकर भगवान उसके मोहिनी रूप को देख पगला उठे थे। फिर यदि राजा उनके विना इतने बेचैन हो गये, तो इसमें आश्चर्य ही क्या ? वे सेन के लिए—पर वास्तव में भगवान के विरह में—पानी से निकाली हुई मछली की भाँति छटपटा रहे थे और सबसे सेन को शीघ्र बुला लाने को कह रहे थे। लोग हैरान थे, उनकी समझ में ही नहीं आरहा था कि सेन ने कौन सा जादू डाला है जिससे राजा उसके बिना इतने बेचैन हो रहे हैं।

इधर सेन को जब सन्त-सेवा से फुर्सत मिली, भजन-कीर्तन समाप्त हुआ, तब उन्हें होश आया और याद आई उन्हें राजा की टहल की। विचित्र दशा थी उनकी—सत्संग का आनन्द, पर राजा की टहल में चूक होने का पश्चात्ताप और उनकी चूक से राजा को कष्ट मिलने का दुःख—ये सब भाव एक साथ उनके हृदय को मथने लगे। उन्होंने अपनी पेटी उठाई और चल दिये महल की ओर।

लोग सेन को बुलाने जा ही रहे थे। जो कोई उन्हें आता देखता, वही उनके भाग्य को सराहता, कहता, "धन्य हैं आप, जिनकी सेवा से राजा इतने प्रसन्न हैं।" सेन समझते, "ये सब व्यंग्यवाण हैं। राजा अवश्य मुझपर बड़े क्रुद्ध होंगे, और न जाने कौन सा दण्ड मुझे दें।" दण्ड की चिन्ता तो इन्हें थी नहीं, क्योंकि भक्त तो आई हुई सभी परिस्थितियों को—चाहे वे सुखद हों अथवा दुःखद—अपने प्रभु का प्रेमोपहार समझता है; पर इन्हें इस बात का दुःख अवश्य था कि उनके कारण राजा को बड़ा कष्ट हुआ होगा। जब ये ड्योढ़ी पर पहुँचे, तो ड्योढ़ीवान को उन्हें पुनः आया देख बड़ा आश्चर्य हुआ। उसने पूँछा, "क्या कुछ भीतर छोड़ आये हो जो दुबारा आना पड़ा ?" इसे सुनकर ये चौंक पड़े, सोचा, "मैं तो यहाँ अभी आया ही नहीं, यह क्यों ऐसा कह रहा है ?" एकबारगी उनके मस्तिष्क में वास्तविकता कौंध गई। सोचने लगे, "मैं बड़ा पापी हूँ, मेरे कारण भगवान को इतना कष्ट उठाना पड़ा। धन्य हैं राजा जिन्हें भगवान ने इस प्रकार कृतार्थ किया।" यह सोचते ही वे दौड़ पड़े राजा के दर्शनों को।

राजा सेन को देखते ही निहाल होगये, दौड़ कर उन्होंने उन्हें गले से लगा लिया। सेन ने राजा को उस दिन का सारा रहस्य बताकर कहा

"आप बड़े भाग्यवान् हैं । जिनकी चरण-सेवा के लिए बड़े से बड़े ऋषि-मुनि और ब्रह्मा तथा शंकर तक तरसते रहते हैं, आज स्वयं उन्होंने अपने करकमलों से आपकी सेवा की ।" राजा का रोम-रोम पुलकित हो उठा । वे पड़ गये सेन के चरणों में और बोले, "यह सब इन चरणों का प्रसाद है, आप मेरे गुरु हैं, मैं कभी आप से उऋण नहीं हो सकता ।"

उस दिन से राजा का सारा जीवन ही बदल गया । वे सारा राज-काज और प्रजा-पालन भगवत्पूजा के रूप में करने लगे । राजकोष अब विलासिता का साधन नहीं रहा, वह खुल गया दान-पुण्य, सन्त-सेवा तथा प्रजा हित के कामों के लिए । प्रजा भी ऐसे राजा को पाकर निहाल होगई ।

सेन भी विरक्त हो गये । थोड़े दिन पश्चात् उन्होंने स्वामी रामानन्द के पास जाकर उनसे दीक्षा लेली । गुरु से आज्ञा लेकर उन्होंने तीर्थाटन किया । वहां से लौट कर वे पंढरपुर में रहने लगे । यहां सन्त ज्ञानेश्वर के सत्संग तथा भगवान विट्ठल की भक्ति में रहकर अपने ज्ञान-भक्तिमय जीवन से आस-पास के जन-जीवन को ये आलोकित करते रहे । सन्त-ज्ञानेश्वर से इन्हें बड़ा प्रेम था । ये उनको विष्णु का अवतार मानते थे । ज्ञानेश्वर महाराज की भी इन पर बड़ी कृपा रहती थी । सन्त सेन की गणना स्वामी रामानन्द के प्रसिद्ध बारह शिष्यों में की जाती है ।



यद्यपि प्रीति बीजरूप से सभी में विद्यमान है, परन्तु जब हम उसे वस्तु, व्यक्ति, अवस्था आदि में आबद्ध कर देते हैं, तब वह आसक्ति तथा लोभ, मोह, जड़ता आदि विकारों में बदल जाती है, जैसे नदी का निर्मल जल किसी गड्ढे में आबद्ध होने से विकृत होकर अनेक विषैले कीटाणु उत्पन्न करता है । अतः प्रीति जैसे निर्मल चिन्मय तत्त्व को किसी वस्तु, व्यक्ति आदि में आबद्ध नहीं करना चाहिए । प्रीति तो प्रीतम का स्वभाव है । उसे सब ओर से हटाकर अपने प्रीतम की ओर ही स्वतः प्रवाहित होने देना चाहिए ।

(जीवनदर्शन ग्रन्थ से)

जटायु का अमर बलिदान

• प्रो० श्री शिवानन्दजी

मानव की जीवन-यात्रा में उसके पथ को आलोकित करने वाले तथा उसकी यात्रा को दिशा प्रदान करने वाले सच्चे दीपस्तम्भ उसके आदर्श एवं मूल्य होते हैं । उनके सतत अनुगमन एवं परिपालन से ही मानव को निःश्रेयस की उपलब्धि होती है। यदि जीवन में कहीं उचाट, उकताहट, ऊब, नीरसता अथवा विरसता सन्निविष्ट हो जाय और एक रिक्तता का सा अनुभव होने लगे, तो हमें जान लेना चाहिए कि हम पथ से भटक गये हैं और लक्ष्य से विमुख हो गये हैं । भगवद्दर्शन, जनसेवा, परोपकार, ज्ञानार्जन, कला-सिद्धि, अन्वेषण, अनुसंधान, सद्भाव-प्रसार इत्यादि किसी भी लक्ष्य को यथारुचि ग्रहण कर, जीवन में उसका अधिकतम समावेश करना मानो जीवन को सारमय बना देना है। अपने क्रिया-कलाप का एक निश्चित उद्देश्य निर्धारित करना तथा उसकी पूर्ति का प्रयत्न करना जीवन-यात्रा को सोद्देश्य, सफल एवं सार्थक बना देना है। सचमुच, आदर्शों के बिना हमारा अस्तित्व ही एक दुखद भार बन जाता है, जिसका वहन हमें मूक पशु की भाँति अन्त तक करना होता है ।

आदर्शों के पालन में हमें अनेक कष्ट सहने होते हैं । भगवान् राम ने दुस्सह संकटों से ग्रस्त होकर भी आदर्श-त्याग नहीं किया । महापुरुष संकटों से भयभीत नहीं होते हैं, वरन् वे स्वयं उन्हें निमंत्रित करते हैं तथा उनका आलिंगन सहर्ष करते हैं । कदाचित्, ज्यों-ज्यों मनुष्य आदर्श-पालन करते हुए संकटों में से गुजरता हुआ आगे बढ़ता है, त्यों-त्यों वह महान् होता जाता है तथा उसे गहन एवं स्थायी सुख की अनुभूति होने लगती है ।

गीता में भगवान् कृष्ण की एक सूक्ति है--न हि कल्याणकृत्कश्चिद् दुर्गतिं तात गच्छति । कैसा अमर संदेश सन्निहित है इन थोड़े से शब्दों में। कल्याण (सेवा-परोपकार) के मार्ग पर चलने वाला कोई भी व्यक्ति कभी, किसी काल में, दुर्गति को प्राप्त नहीं होता है। परोपकाररत व्यक्ति

का धवल यश अनन्त काल तक अमिट रहता है। जब परोपकारी गृध्रराज जटायु प्राणोत्सर्ग कर रहा था, शुभदर्शन श्री राम ने उससे कहा, "परहित बस जिन्ह के मन माहीं, तिन्ह कहुँ जग दुर्लभ कछु नाहीं।" यदि अवसर पड़ने पर मनुष्य आदर्शों के अनुरूप आचरण न कर सके और उनका मनन, चिन्तन ही करता रहे तो उसे हम आदर्शवान् नहीं कह सकते हैं। आदर्श की सार्थकता उसके चिन्तन-मात्र में नहीं, बल्कि उसके पालन में निहित है। यदि हम अन्याय और अत्याचार को कुत्सित मानते हैं, तो व्यावहारिक जगत् में कितनी बार हम सामने डट कर उनका प्रतिरोध करते हैं ? समाज में पाप की वृद्धि का एक प्रमुख कारण यह भी है कि हममें बुराई को बुराई कहने का तथा उनको निर्मूल करने का साहस नहीं रह गया। व्यक्ति से घृणा न करते हुए भी हम बुराई का सबल प्रतिरोध कर सकते हैं। महात्मा गाँधीजी कहते थे कि जिस मात्रा में हम बुराई का प्रतिरोध करेंगे, उसी मात्रा में हम निर्मल एवं सबल होते जायेंगे तथा परमात्मा के समीप होते जायेंगे। आज हमारे सामने कोई घोर अन्याय हो रहा हो, तो हम उसे देखा-अनदेखा करके उपेक्षा भाव से पलायन कर जाते हैं तथा डरते हैं कि कहीं हम पर ही आक्रमण न हो जाय। ऐसी विचित्र हमारे समाज की दशा हो गई है, जिससे सर्वत्र तीव्रता से पाप पनप रहा है।

वीर जटायु ने सीता की रक्षा करने में प्राण-दान देकर अन्याय-प्रतिरोध का एक ज्वलन्त उदाहरण प्रस्तुत किया है। रामचरितमानस में हम जहाँ भरत के भ्रातृ-प्रेम, सीता की पति-भक्ति, हनुमान की स्वामि-भक्ति और शबरी की प्रभु-भक्ति की प्रशंसा करते हैं, वहाँ जटायु का अत्याचार-प्रतिरोध भी उतना ही प्रशंसनीय है। सीता का करुण क्रन्दन सुनकर वृद्ध जटायु ने प्राणों की बाजी लगा दी और बलपूर्वक सीता के ले जाने वाले क्रूर रावण को चुनौती दे दी। नृशंस म्लेच्छ के हाथ में पड़ी हुई कपिला गाय की भाँति सीताजी असहाय दशा में घोर विलाप कर रही थीं। जटायु ने यह देखते ही सीता को साहस बंधाते हुए कहा, "हे पुत्रि सीते, भय मत कर, मैं अभी इस राक्षस का नाश कर दूंगा।" फिर जटायु रावण की ओर इस प्रकार बलपूर्वक झपटा मानो पर्वतों की ओर वज्र छूटता हो तथा उसने रावण को ललकार कर कहा, "रे दुष्ट, खड़ा क्यों नहीं होता है ? क्या तूने मुझे नहीं देखा है?" कृतान्त के समान भयानक जटायु को आगे बढ़ता हुआ

देखकर रावण मन में विविध अनुमान करने लगा और बोला, "अरे ! यह तो बूढ़ा जटायु है जो मेरे कर रूपी तीर्थ में अपने प्राण छोड़ना चाहता है। जटायु युद्ध करने से पूर्व रावण को कुमार्ग त्याग कर सन्मार्ग पर आने का सदुपदेश देना चाहता था। अतः वह बोला, "हे रावण, देवी जानकी को छोड़ दे और कुशलपूर्वक अपने घर चला जा, अन्यथा तुझे सपरिवार अति घोर रामरोषपावक में शलभ की भाँति जल जाना होगा।" रावण के द्वारा इस चेतावनी की भी अवहेलना किये जाने पर जटायु ने साहसपूर्वक रावण को बाल पकड़ कर रथ से नीचे उतार लिया। जटायु ने देवी सीता को एक ओर बैठाकर रावण के शरीर को चोंच मारकर विदीर्ण कर दिया। खिसिया कर रावण ने क्रोध में तलवार निकाल ली और जटायु के विशाल पंख काट डाले। रावण सीता को रथ पर चढ़ा कर शीघ्रता से चल दिया। सीताजी व्याध के हाथ में पड़ी हुई हिरनी की भाँति असहाय थीं। जटायु छटपटाता रह गया, किन्तु उसे सन्तोष था कि उसने बूढ़ा और असमर्थ होकर भी अपना कर्तव्य-पालन किया और तदर्थ अपने पंख तक कटवा लिए। यह महान् शौर्य था।

सीता जी की खोज करते हुए कृपावारिधि श्रीराम ने जटायु को पक्षहीन पड़ा हुआ देखकर सुकोमल करकमलों से मधुर स्पर्श किया और उसके प्रति अपनी हार्दिक कृतज्ञता ज्ञापित की। श्रीराम ने उसके साहस एवं पराक्रम की भूरि-भूरि सराहना की। इसी भूमिका में श्रीराम ने कहा, "परहित बस जिन्ह के मन माहीं। तिन्ह कहुँ जग दुर्लभ कछु नाहीं।" जटायु ने श्रीराम के समक्ष ही प्राणोत्सर्ग कर स्वर्गारोहण किया। श्रीराम ने अपने हाथों से उसका दाहकर्म आदि किया और इस प्रकार उसका उचित समादर किया।

आज हमें आवश्यकता है, जटायु जैसे साहसी पुरुषों की जो निर्भीकता-पूर्वक सामाजिक एवं राजनैतिक जीवन में छाये हुए पापाचार, अनाचार, अत्याचार और दुराचार के विरुद्ध न केवल जोरदार आवाज उठाएं, बल्कि उसका डटकर सामना करें और स्थिति से पलायन न करें। और, धन्य हैं राम सरीखे महामानव, जो गृद्ध के प्रति भी अश्रुपूर्ण होकर कृतज्ञता-प्रकाशन करते हैं।

अन्याय एवं अत्याचार के प्रतिरोध में, वृद्ध एवं अशक्त जटायु के द्वारा महाबली रावण को चुनौती देने का साहस स्तुत्य है और धन्य है न्याय की रक्षा हेतु उसका सहर्ष प्राणोत्सर्ग करना। जटायु की धवल कीर्ति अमर है और अमर है उसका दिव्य बलिदान।

देखी बरात अनदेखा घराती

• श्री महेन्द्र कुमार कौल

शादियों की धूम थी। बरातों का मौसम था, जहाँ जाओ वहीं भीड़, रेलगाड़ी में तिल धरने को जगह नहीं। बसों के टिकिट-घर पर सुवह से क्यू में लगिये तो शाम हो जाय, किन्तु खिड़की तक पहुँचते-पहुँचते खिड़की बन्द। बाजार में साग-भाजी खरीदने जाओ तो पहले तो चीज ही नदारद, यदि मिल भी गई तो बाबा के मोल। भाई पहले भी तो लड़के-लड़कियाँ थे। उनकी शादियाँ भी होती थीं। हर वात का एक ही जवाव—आबादी नहीं देखते किस स्पीड से वढ़ रही है। यदि यही हाल रहा तो श्मशान घाट पर भी क्यू में खड़ा रहना पड़ेगा।

खैर साहव यह शादियों का हड़बौम तथा बरातों का जलूस देखते-देखते दिमाग में एक विचार कौंधा कि ये जो इतने लोग बने-सँवरे—फौज की फौज—चले जा रहे हैं इन वरातों के खाने, ठहराने इत्यादि का प्रवन्ध करने वालों पर क्या गुजरती होगी। मेरा मतलव घराती से है, जो विचारा कभी न तो वाजे-गाजे के साथ चलता है और न यही पता लगता है कि यह साहव हैं कौन? वैसे बरात में दूल्हे के नजदीकी और दूर के रिश्तेदार चलते हैं तो पता चलता है कि वरात है। ऐसे ही घराती एक अकेला ही नहीं होता वहाँ भी दुलहिन के माँ-बाप तथा दुलहिन की सखी-सहेलियाँ और दूर-पास के नाते-रिश्तेदार मिलकर घराती कहलाते हैं।

किन्तु साहव आज आपको हम एक ऐसी बरात का किस्सा बयान करने जा रहे हैं कि जिस बरात में सभी दूल्हे हैं तथा बरात बिना बुलाये ही चली आ रही है। आप सोचते होंगे कि क्या शेख-चिल्ली का किस्सा ले बैठे। अजी जनाव यह

शेख-चिल्ली का किस्सा नहीं, एक हकीकत है। आप कल्पना कीजिये कि क्या यह दुनियाँ एक बरात नहीं है? जब इन्सान या कोई भी जीवधारी इस जमीन पर तशरीफ लाता है, क्या अपने साथ कुछ लेकर आता है और फिर इन तशरीफ लाने वालों की गिनती भी—एक, दो, चार, अदद नहीं—बल्कि वे इतने हैं कि कि हम और आप गिनने बैठें तो गिन भी न सकें। यदि गिन सकते हों तो गिन कर बताइये कि सारी दुनियाँ में इन्सान, जानवर, पशु, पक्षी मिला कर कुल कितने जीवधारी हैं। यदि नहीं बता सकते तो हमारी बात कबूल कीजिये। दूसरे इतनी बड़ी बरात का मुकाम भी कोई निश्चित नहीं है कि ये बिना बुलाये मेहमान कब तक ठहरेंगे। आप देखेंगे तो महसूस करेंगे कि ये बराती अनादिकाल से चले आ रहे हैं और साहब कमाल है उस घराती का भी जो दिखायी तो नहीं देता, किन्तु किसी भी बराती की मेहमाननवाज़ी में जरा सी भी कसर नहीं रखता।

आपकी और हमारी बरातों में तो बरात के लिए जो-जो चीजें तैयार करायी जाती हैं खाने की, पीने की, उनमें यदि देर-सवेर हो जाय तो भी बराती लोग थोड़ा रूँठ-मटक कर मान जाते हैं तथा दो-चार खरी-खोटी घराती को सुनाकर खाने पर डट जाते हैं। किन्तु यह जो दूसरी बरात है उसमें यदि कोई चीज पहुँचाने में घराती को पाँच मिनिट की भी देर हो जाय तो साहब लेने के देने पड़ जाएँ और बराती इस काबिल भी न रहे कि कुछ सख्त-सुस्त भी कह सकें। सख्त-सुस्त कहना तो दरकिनार, बराती ही न रहेंगे। जी हाँ मेरा मतलब हवा से ही है। इस दुनियाँ के बरातियों को यदि हवा सप्लाई करने में घराती पाँच मिनिट की देर लगाये तो बरात का नाम लेवा और पानी-देवा भी न रहे। एक हवा ही ऐसी नहीं है और भी चीजें ले लीजिये—पानी वगैरह-वगैरह ....।

थोड़ा और आगे चलेंगे तो आप देखेंगे कि कैसे कमाल का इन्तजाम इस घराती का है कि बरात जो आसमान में रह रही है उसके लिए खाने-पीने का प्रबन्ध वहाँ पहले से ही मौजूद है। बरात जो जल में विहार कर रही है उसके लिए सारे इन्तजामात वहाँ मुहैया हैं और जो बरात के मैम्बरान हम और आप लोग हैं और जमीन के ऊपर आसन लगाये बैठे हैं उनके लिए यहाँ सब इन्तजाम है। जमीन के अन्दर रेंगने वाले बराती साहबान जैसे साँप, केंचुआ इत्यादि हैं उनके लिए

वहाँ सब प्रबन्ध है । कहिये साहब मान गये न आप भी घराती के इस चतुर्मुखी प्रबन्ध को । अब आप सोचते होंगे कि ऐसा अनोखा घराती जो इतना सामर्थ्यवान है तथा इतना महान प्रबन्धकर्ता है, जो जल, थल, नभ सभी प्रकार के बरातियों का इस खूबी से अनादि काल से प्रबन्ध करता चला आ रहा है, वह है कहाँ? सो साहब उसे देखने-दिखाने का जहाँ तक मेरा सवाल है मुझमें तो बूता है नहीं। हाँ आपको बरात दिखा दी है और दिखा ही क्या दी है आपको बराती बना कर बरात में भी शामिल कर लिया है । लगे रहिये बरात के साथ और करते रहिये मौज घराती के सिर पर । जब इन्तजाम करते-करते घबरा जायेंगे घराती साहबान तो अपने आप प्रकट हो जायेंगे और बजाय अर्ज करने के हुक्म देंगे कि बराती साहबान तशरीफ ले जाइये, बहुत गुलछर्रे उड़ा चुके । हम बरातियों में से है किसी की मजाल जो इन घराती साहब की हुक्म उदूली कर सके ? यदि आपमें इतनी हिम्मत है, तो यह भी कर देखियेगा।

हाँ,यह बात जरूर मानने काबिल है कि घराती साहब बरात को अपने यहाँ रखने में ही खुशी महसूस करते हों तथा उन्हें अपनी बरात से इस हद तक प्यार हो कि वह अपनी आँख से इस बरात को ओझल न करना चाहते हों और यह बरात हमेशा ही ऐसी ही सदाबहार रहे तथा हम और सभी बराती ऐसे मेहरबान तथा सामर्थ्यवान घराती को उसके हर इन्तजाम में देखने का नजरिया पैदा करें, उसकी इस मेहरबानी के लिए तहेदिल से शुक्रिया अदा करते हुए दुआ करें कि हे घराती साहब आप हमेशा अपनी बरात पर मेहरबान रहें और बरात भी एक पल भी आपको न भुलाये और आप तो खैर इस प्यारी बरात को भुला ही नहीं सकते।

जैसे चिमटा प्रायः और सब चीजों को पकड़ सकता है, परन्तु पीछे लौट कर उन उँगलियों को जो उसको साधे हुए हैं, किसी प्रकार नहीं पकड़ सकता, उसी प्रकार मन अथवा बुद्धि से उस महान् अज्ञेय को, जो स्वयं उनका आदि मूल है, जानने की किसी प्रकार आशा नहीं की जा सकती ।

—स्वामी रामतीर्थ

साधक का जीवन

• श्री कन्हैयालाल जी दूगड़

सुसाधक का सारा हि जीवन सुसाधन ,
कभी उसकी कोई न हलचल असाधन ।

नहीं आलसी बन करे व्यर्थ चिन्तन ,
नहीं भूलता आत्मकर्तव्य-पालन ।

नहीं अन्य जन के करे दोष-दर्शन ,
नहीं आत्म-दोषों का रहने दे अंकन ।

नहीं भूत का, न भविष्यत् का चिन्तन ,
करे प्राप्त का ठीक उपयोग हरदम ।

नहीं कामना और ममता-निबन्धन ,
नहीं आत्म-श्रद्धा में होती है कम्पन ।

नहीं ज्ञान-विपरीत चलता है इकदम ,
करे खोज सत् की, करे आत्म-मन्थन ।

नहीं भीत भय से, सदा ही मगन मन ,
नहीं भूल का भी करे पुनरावर्तन ।

नहीं दुःख का भय, नहीं सुख-प्रलोभन ,
कन्हैया ने सुन कर सुनाया सनातन ।



लोहा और चुम्बक

• केप्टेन एस. एम. चन्द्रा (रिटायर्ड)

विज्ञान यह सत्य प्रकाश में लाया है कि लोहे के कण अस्त-व्यस्त होने के कारण सुप्त अवस्था में होते हैं। जब उनको व्यवस्थित कर दिया जाता है, तो वे जाग्रत हो जाते हैं, उनकी आकर्षण-शक्ति का विकास हो जाता है और लोहा चुम्बक बन जाता है।

चुम्बक बनाने के छः प्रकार हैं और लोहे के कणों के अनुसार ही आकर्षण की शक्ति और मर्यादा होती है। चुम्बक का अपना क्षेत्र होता है।

यदि चुम्बक को पृथ्वी के समानान्तर घूमने की स्वतन्त्रता हो तो वह सदैव उत्तर की ओर रहेगा और यदि पृथ्वी के ऊपर सीधा खड़े होकर घूमने की सुविधा हो तो सदैव पृथ्वी के केन्द्र की ओर रहेगा।

इस आकर्षण-शक्ति का विकास ही विद्युत का जन्मदाता है और संसार के सभी उपयोगी प्रयास और लाभदायक योजनाएँ इसी का प्रतिफल हैं। इसकी उपयोगिता का पूर्ण रूपेण वर्णन सुगम नहीं।

लगभग यही भेद आत्मा, महात्मा और परमात्मा के मध्य है। आत्मा के व्यवस्थित होते ही उसका तेज या आकर्षण प्रत्यक्ष होने लगता है। इसी को आकर्षक-व्यक्तित्व (Magnetic Personality) कहते हैं। इस आकर्षण का विकास भी छः प्रकार से होता है तथा उसी अनुपात से उसकी शक्ति और क्षेत्र का विस्तार होता है और मर्यादा का काल होता है। यह भी सदैव ईश्वरोन्मुख रहता है। यह इसका दुर्भाग्य होता है जो सांसारिक-बन्धनों में ग्रस्त होकर उस शक्ति को खो बैठता है।

जो यह विधि मिलै न फेरि,
सुमति ज्यों उदधि समानी।

इसी भाव को महात्मा तुलसीदासजी ने इस प्रकार वर्णन किया है—

ईश्वर अंश जीव अविनाशी,
चेतन अमल सहज सुखरासी।

सो माया बस भयउ गुसाईं,
बन्ध्यो कीर मरकट की नाईं ॥

जड़ चेतनहि ग्रन्थि पड़ि गई,
जदपि मृषा छूटत कठिनई ॥

तब ते जीव भयउ संसारी,
छूट न ग्रन्थि न होय सुखारी।

श्रुति पुराण बहु कहेउ उपाई,
छूट न अधिक अधिक उरझाई ॥

जीव हृदय तम मोह विशेषी,
ग्रन्थि छूट किमि परेइ न देखी ॥

आत्मा उन्नति या विकास करके महान् होती है और उस विकास की सीमा का नाम 'परम' है, अर्थात् आत्मा विकसित होकर महात्मा कहलाती है, तत्पश्चात् पूर्ण विकास को प्राप्त होने पर परमात्मा ।



जीवन को साधन और साधन को जीवन बनाने के लिए यह आवश्यक है कि वर्तमान कर्तव्य कर्म को भौतिक दृष्टि से सुन्दर समाज के निर्माण के लिए और विश्व-प्रेम की प्राप्ति के लिए सावधानी-पूर्वक, साधन-बुद्धि से सम्पन्न किया जाय । अध्यात्म दृष्टि से वर्तमान कर्तव्य कर्म को राग निवृत्ति तथा सर्वात्मभाव की अभिव्यक्ति एवं अपने ही में अपने अविचल प्रेम की प्राप्ति के लिए, साधन-बुद्धि से किया जाय; उसमें सुख की आशा का लेश भी न हो, तभी अध्यात्म-दृष्टि से जीवन और साधन में एकता हो सकती है । आस्तिक दृष्टि से प्रत्येक वर्तमान कर्तव्य-कर्म अपने प्यारे की पूजा है, और कुछ नहीं । यह नियम है कि जिसकी पूजा की जाती है, पुजारी पूजा के अन्त में स्वतः उसी का प्रेम हो जाता है । अतः साधन और जीवन में एकता होते ही सभी साधकों को प्रेम की प्राप्ति होती है । प्रेम की प्राप्ति में ही जीवन की सार्थकता तथा साधन की पूर्णता निहित है । इस दृष्टि से जीवन साधन और साधन जीवन है । प्रत्येक साधक साधन होकर ही साधन तत्त्व से अभिन्न होता है, जो वास्तव में साधन और जीवन की अभिन्नता है ।

(साधन तत्त्व से)

निर्बल की पुकार

—श्री मलखान सिंह जी

दे दो अपना विश्वास प्रभु !

मैं प्रीति तेरी, तुम प्रीतम हो, इतना मेरा अस्तित्व यहाँ,
मैं भोग तेरा, तुम भोगी हो, इसमें मेरा कर्तृत्व कहाँ ?

इस तन को अपना मान लिया, वस्तु से नाता जोड़ लिया,
इस अहं व मम के खाने को, भिक्षा का तो एक ग्रास प्रभु ! दे दो ...

इच्छा अपनी पूरी करके, अपनी आत्मीयता प्रदान करो,
मेरी भी तमन्ना पूरी हो, तुम प्रेम से जीवन को भर दो ।

यह राग-द्वेष, सुख-दुःख आदि, यह भोग-रुचि कब से चिपटी,
मुझको तेरी प्रियता से भिन्न कुछ और न हो अहसास प्रभु ! दे दो ...

अन्य किसी का भास न हो, तेरी ही सत्ता छा जाये,
अस्तित्व किसी का और नहीं, यह मेरे मन में भर जाये ।

न आँख से तेरी ओझल हूँ, न ज्ञान से तेरे बाहर हूँ,
फिर तेरी कृपा-दृष्टि से, होऊँ मैं क्यों देआस प्रभु ! दे दो ...

तेरे देखे जाने पर भी, परमाद मेरा क्यों जीवित है ?
यह सहन-शीलता क्यों इतनी कृपा-दृष्टि क्यों सोवत है ?

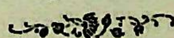
दुर्दशा हमारी देखो तुम, अरु व्यथित न हो, कैसे मुमकिन ?
कहदूँ अविचल विश्वास सहित, दे दो ऐसा आभास प्रभु ! दे दो ...

तुम व्यथित रहो, मैं जिया करूँ, क्या जीवन का है सार यही ?
रस तुम्हें निरन्तर देते हैं, भक्तों का है आचार यही ।

पर यह परमादी एकमात्र, तुमको दुख देकर जीवित है,
तुम अहैतुकी अपनी किरपा से, कर दो प्रमाद का नाश प्रभु ! दे दो ...

तुम अपनी ओर तनिक देखो, अरु महिमा से जीवन भर दो,
तेरी ही पूजा जीवन हो, ऐसा जादू मुझ पर कर दो ।

अन्य कोई विश्वास न सम्बन्ध जरा भी रह जाये,
मेरा विश्वास सविकल्प होगा, कर दो उसे निर्विकल्प प्रभु ! दे दो ...



मानव धर्म

★

संसार के सभी प्राणी सुख और शान्ति के लिए युग-युगान्तर से निरन्तर अथक प्रयत्न करते रहे हैं और करते रहेंगे। प्रायः सभी देशों में समय-समय पर ऐसे महापुरुष अवतार लेते रहे हैं जो दुःख और अशान्ति को दूर करने के लिए देश और काल के अनुरूप उपाय बताकर उसको आचरण में लाने के लिए उपदेश देते रहे हैं। ऐसे महापुरुषों और सन्त महात्माओं के उपदेश भिन्न-भिन्न धार्मिक ग्रन्थों के रूप में भिन्न-भिन्न देशों में विद्यमान हैं। इनकी विचार-धारा और लेखन-शैली में भिन्नता होने पर भी लक्ष्य एक ही है। सभी ने बताया है कि संसार में जीव-मात्र को किस प्रकार शान्ति और सच्चा सुख मिल सकता है। सभी महापुरुषों ने विश्व-प्रेम और निष्काम सेवा का उपदेश दिया है। यह दुर्भाग्य की बात है कि इन्हीं महापुरुषों के अनुयायी उनके नाम और उनके सद्ग्रन्थों की दुहाई देकर संकीर्ण साम्प्रदायिकता के आधार पर एक दूसरे का सिर फोड़ रहे हैं, सेवा और प्रेम के स्थान पर घृणा और द्वेष का प्रचार कर रहे हैं और माया और मोह के कीचड़ में फँसे हुए दुखी जीवन व्यतीत कर रहे हैं। सच्चा धर्म तो वह है जो मानव-मात्र को सत्य, अहिंसा और पारस्परिक प्रेम के सूत्र में बाँध कर वास्तविक सुख और शान्ति प्रदान करे। यह तभी हो सकता है जब मानव संकीर्ण विचारों के दूषित वातावरण से बाहर निकलकर काम, क्रोध, लोभ, द्वेष तथा अहंकार का परित्याग करके सत्य, अहिंसा, तप, त्याग और सेवा का शुद्ध सात्विक जीवन ग्रहण करने का प्रयत्न करे। यही सच्चा मानव धर्म है जिसके द्वारा इस जीर्ण-शीर्ण और दुखी संसार में स्थायी सुख और चिर शान्ति की प्राप्ति हो सकती है। यह संसार कर्म-क्षेत्र है। जीव अपने कर्म से ही स्वर्ग-सुख की प्राप्ति करता है और कर्म से ही नरक की यातनाएँ सहन करता है। महापुरुषों के उपदेशों के अनुसार सत्कर्मों में लीन हुआ मनुष्य जीव-मात्र में ब्रह्म का दर्शन करता है। उसके हृदय में घृणा और द्वेष के लिए कोई स्थान नहीं रहता। वहाँ तो सर्वदा विशुद्ध प्रेम की निर्मल धारा बहती है और अखण्ड आनन्द की दिव्य-ज्योति जगमगाती है।

(साभार "अखण्ड आनन्द" से)

★

सन्त-प्रवर सहल तस्तरी

के

सदुपदेश

१. पवित्र भोजन के विना एकान्त में भी उत्तम साधना नहीं हो सकती और ईश्वरार्पण किये विना कोई भी वस्तु पवित्र नहीं हो सकती।

२. इन चार बातों का पालन करोगे तभी तुम से विशुद्ध साधना हो सकेगी—(१) भूख की अपेक्षा कम भोजन करना, (२) लोक-प्रतिष्ठा का त्याग, (३) निर्धनता की स्वीकृति और (४) ईश्वरेच्छा में संतोष।

३. अन्याय से प्राप्त वस्तु का उपभोग करने वाले सारे अङ्ग पाप से लिप्त हो जाते हैं। उसकी अपनी इच्छा न हो तो भी वह पाप में ही डूबता चलता है। जो मनुष्य न्याय पूर्वक प्राप्त पवित्र वस्तु का उपयोग करता है, उसके सारे अङ्ग साधना के अनुकूल वर्तते हैं और बाह्य संयोग रूप में ईश्वर-कृपा भी उसको विशेष रूप से आकर प्राप्त होती है।

४. जो मनुष्य सच्ची निवृत्ति प्राप्त करना चाहता है, उसको सब प्रकार के पाप कर्मों से और विपरीत ज्ञान से हाथ खींच लेना चाहिये।

५. तुम जो भी काम करो, वह यदि उसकी आज्ञा के अनुसार नहीं है, तो उससे तुमको दुःख ही प्राप्त होगा।

६. ईश्वर-भक्त जब तक अदृश्य वस्तु-स्थिति की ओर प्रेम नहीं पैदा करता और 'मृत्यु सिर पर है'—यह बात याद नहीं रखता, तब तक उसमें सर्वाङ्ग सुन्दर तपश्चर्या आती ही नहीं।

७. ईश्वर के सिवा दूसरे किसी भी पदार्थ में जो मनुष्य सुख मानता है उसका मन ही दूषित है, इसीलिये उसके हृदय में प्रभु विश्वास

और पवित्रता की ज्योति का प्रकट होना कठिन है।

८. तुम बाहर से निर्धन दीख पड़ने वाले साधु पुरुषों के प्रति अवज्ञा और गर्व दिखलाते हो, पर यह अच्छी तरह जान लो कि वे ही प्रभु की सच्ची संतान, पूर्ण प्रतिनिधि और सर्वोत्तम सम्पत्तिवान हैं।

९. इन छः विषयों का अवलम्बन करना ठीक है—(१) ईश्वरीय ग्रन्थ का अवलम्बन, (२) ऋषि-मुनियों के द्वारा प्रचारित ईश्वरीय आज्ञाओं का अनुसरण, (३) खान-पान को पवित्र रखना, (४) हिंसा और निन्दा करने वाले की हिंसा और निन्दा करने से बचना, (५) निषिद्ध विषयों से दूर रहना और (६) जो कुछ भी देने का विचार उठे, तुरंत ही दे डालना।

१०. धर्म के तीन मूल हैं—(१) विचार तथा आचार में महात्माओं के मार्ग पर चलना, (२) पवित्र खान-पान करना, (३) सत्कार्य में ही स्थिति और प्रीति रखना।

११. ये दो बातें मनुष्य के लिये घातक हैं—(१) लोक में मान-प्रतिष्ठा प्राप्ति के लिये दौड़ना और (२) विपत्ति से भयभीत होना।

१२. इस जगत में प्रभु के समान कोई भी सच्चा सहायक नहीं और प्रभु-प्रेरित महापुरुष के समान कोई भी सन्मार्ग-दर्शक नहीं।

१३. मन को सत्य मार्ग पर चलाने की पहली सीढ़ी है सत्य की स्वीकृति; दूसरी सीढ़ी है संसार से उपरति; तीसरी सीढ़ी है आचरण की उच्चता और पवित्रता तथा चौथी सीढ़ी है प्रभु से अपराधों के लिये क्षमा-प्रार्थना।

१४. जो पुरुष मन की मलिनता से मुक्त और सद्विचार-शील है, ईश्वर के सान्निध्य के कारण जिसका माया बन्धन छिन्न-भिन्न हो गया है और जिसकी दृष्टि में धूल और सुवर्ण एक समान है, वही सच्चा सूफी या ज्ञानी ऋषि है।

१५. अल्पाहार में, दिव्य शान्ति में और लोक-संसर्ग के त्याग में साधुता रहती है।

१६. कोई भी अत्यन्त आवश्यक वस्तु तुम्हारे पास न हो तो समझो कि तुम्हारे भले के लिये ही प्रभु की ऐसी इच्छा है, इस प्रकार सच्चे समाधान के साथ शान्त रहने का नाम ही प्रभु पर निर्भरता है।

१७. प्रभु पर निर्भर रहने वालों के तीन लक्षण हैं—(१) दूसरों के सामने याचक न बनना, (२) मिलने

पर भी न लेना, (३) और लेना भी पड़े तो उसे बाँट देना।

१८. आत्म-समर्पण किये बिना कोई प्रभु के ऊपर निर्भर नहीं रह सकता और स्वार्थ-साधन का त्याग किये बिना आत्म-समर्पण नहीं हो सकता।

१९. प्रभु पर निर्भर रहने वालों को तीन वस्तुएं प्राप्त होती हैं—(१) प्रभु में पूर्ण श्रद्धा, (२) अध्यात्म विद्या का प्रकाश और (३) परमात्मा का साक्षात्कार।

२०. ईश्वर ने तुमको जो देना स्वीकार किया है, उसमें जरा भी संदेह न रखना—इसी का नाम निर्भरता अर्थात् प्रभु के ऊपर निर्भर रहना है।

२१. जिस वस्तु की जरूरत हो, वह वस्तु जिसके पास हो उसी से जान-पहचान करनी चाहिये। तुम्हें मोक्ष चाहिये तो वह भी ईश्वर के पास भरपूर होने के कारण उसी से जान पहचान करने पर प्राप्त होगा, सांसारिक भाई वन्धुओं से नहीं।

२२. प्रभु को पाने के लिए दीनता और हीनता (लौकिक पदार्थ न रखना) के समान दूसरा सहल मार्ग नहीं है।



मनुष्य स्वाधीन गति के अभाव से कर्म-क्षेत्र में पंगु हो जाता है। धर्म-क्षेत्र में भी ऐसा होता है। अपनी-अपनी चिन्ताओं का प्रसार न मिलने से साधक की साधक-चेष्टा संकुचित हो जाती है, अतएव जो जिस मार्ग पर अग्रसर हो रहा है, उसी मार्ग में शुद्ध-भाव की परिपुष्टि लाभ करने के लिए अपने-अपने पुरुषार्थ का प्रयोग करे। जब लक्ष्य प्राणमय हो जायेगा, तब जिसको जो आवश्यक होगा—"आप से आप हो जायेगा।"

—श्री श्री माँ श्री आनन्दमयी

साधकोपयोगी बातें

आत्म-निरीक्षण का सुफल
तथा
पर-दर्शन से हानि

• श्री जीवनराम जी

(जैसा मैंने सुना और समझा)

प्रत्येक मनुष्य यदि अपनी तरफ देखना शुरू कर दे, तो उसको अपनी दशा का, अपने दायित्व का और अपनी मांग का भली प्रकार ज्ञान हो जाये और इनका ज्ञान होने पर विगड़ी हुई दशा का तो सुधार हो जाय, जिससे अपने दायित्व को पूरा करने की सामर्थ्य आ जाय और फिर उस सामर्थ्य के द्वारा अपने दायित्व को पूरा कर देने पर मांग पूरी हो जाय। परन्तु मनुष्य जब अपनी तरफ न देख कर दूसरों की ओर देखने लग जाता है, तो उसके जीवन में राग-द्वेष की उत्पत्ति हो जाती है। कारण, कि दूसरों की ओर देखेगा, तो या तो किसी के गुण दीखेंगे या किसी के दोष दीखेंगे। जिसमें गुण दीखेंगे उसके प्रति तो राग हो जायगा और जिसमें दोष दीखेंगे उसके प्रति द्वेष हो जायगा। दूसरी बात यह होगी कि दूसरों के गुण-दोष देखने से अपने में हीनता और अभिमान की उत्पत्ति होगी। दूसरों को दोषी समझ कर तो अपने में गुणों का अभिमान कर लेगा और दूसरों के गुणों को महत्त्व देकर वह अपने में हीनता का अनुभव करने लगेगा। देखो, पर के दो रूप होते हैं—व्यक्ति और वस्तु। व्यक्ति के रूप में पर को देखने से तो राग-द्वेष और दीनता-अभिमान की उत्पत्ति होती है और वस्तु के रूप में पर को देखने से ममता, आसक्ति एवं उनके पाने की कामना उत्पन्न हो जाती है। यदि वस्तुएं प्राप्त हैं, तो उनमें वह ममता और आसक्ति कर लेता है

और अप्राप्त की कामना करने लग जाता है। अतः साधक को तो पर की तरफ भूल कर भी नहीं देखना चाहिए; या तो अपनी तरफ देखे या प्रभु की तरफ देखे। प्रभु पर नहीं हैं, वे तो स्व ही हैं। अतः प्रभु की तरफ देखना ही प्रभु के सम्मुख होना है। प्रभु के सम्मुख होने पर मनुष्य के सब विकारों का नाश हो जाता है, यानी करोड़ों जन्म के पापों का नाश हो जाता है। फिर प्रभु में आत्मीयता करके उनके शरणागत होने पर मनुष्य का कल्याण हो जाता है, स्व की तरफ देखना आत्मनिरीक्षण होता है। अपनी तरफ देख कर जो आत्म-निरीक्षण करता है, उसके सब विकारों का नाश हो जाता है, क्योंकि अपनी तरफ देखने से दोषों का ज्ञान होता है। उन्हें जान लेने पर कोई भी दोषों को सहन नहीं कर सकता, परन्तु अपने विवेक के प्रकाश में ग्रन्थ और सन्तों से सुन-कर जान लेना असली जान लेना नहीं है। अपने विवेक के प्रकाश में दोषों का ज्ञान हो जाता है फिर उनको त्याग कर साधक निर्विकार हो जाता है तब वह स्वयं में सन्तुष्ट हो जाता है। स्व में सन्तुष्ट होने से भी कल्याण की प्राप्ति हो जाती है। इसलिए साधक पर की तरफ कभी न देखे। या तो स्व की ओर या प्रभु की ओर देखे। यही सब का सार है।

यदि कोई यह शंका करे कि पर की तरफ न देखने पर भी कभी पर की ओर दृष्टि चली ही जाती है, तब क्या करें? इसका उत्तर यह है कि पर की तरफ देखना दूसरी बात है और उसका स्वयं दिख जाना दूसरी बात है, जैसे कोई मनुष्य स्त्रियों की तरफ देखता है तब तो उसके हृदय में काम की उत्पत्ति होती है, यानी वह रुचिपूर्वक कामातुर हो जाता है, परन्तु स्त्री विषयक राग और उसमें जो सुख और सुन्दरता की भ्रान्ति होती है उसको मिटा लेने पर स्वा-भाविकतया स्त्री के दिख जाने पर काम की उत्पत्ति नहीं होती। उनको देखने की रुचि न होने पर मेले की भीड़ में कितनी ही जवान और सुन्दर स्त्रियों का स्पर्श हो जाने पर भी काम की उत्पत्ति नहीं होती, रुचि-पूर्वक देखने से ही होती है। यह प्रायः सभी का अनुभव है। इसी तरह पर से सुख की आशा रख कर तथा उनमें अच्छे बुरे की भावना करके उसकी तरफ देखने से दोषों की उत्पत्ति होती है। यदि वह अपने आप दीखें तो दोषों की उत्पत्ति नहीं होती। हमें पर की ओर देखना ही हो तो उसके हित की दृष्टि से तथा उसके सदुपयोग की दृष्टि से भले ही देखें, उससे सुख की आशा रख कर तथा उसके गुण-दोष देखने के लिए नहीं। यदि पर व्यक्ति के रूप में हो, तो

उसके हित की दृष्टि से देखो और यदि वस्तु के रूप में हो,तो उसके सदुपयोग की दृष्टि से देखो। अपने स्वार्थ तथा सुख के लिए दूसरों की तरफ कभी मत देखो। असल में तो कल्याणार्थी साधक को पर का त्याग करना तथा पर से असंग रहना ही श्रेयष्कर है। दूसरा कोई हमको सुखी कर देगा तथा आशीर्वाद देकर हमारी मांग पूरी कर देगा, ऐसा मानना भारी भूल है। सारा संसार मिल कर भी हमारी मांग पूरी नहीं कर सकता। अत: या तो अपनी ओर देखो या प्रभु की ओर;अपनी ओर देखने पर अपनी कोई भूल दीखे तो उसको मिटाओ,भूल नहीं दीखे तो स्व में सन्तुष्ट हो जाओ। प्रभु की तरफ देखने पर अपने में किसी प्रकार की कमजोरी दीखे तो उसको दूर करने की प्रभु से प्रार्थना करो। अगर कोई भी कमजोरी न न दीखे तो प्रभु को प्यार दो तथा उनके प्यार में डूब जाओ। प्रभु को रस दो, अपनी सेवा से उन्हें सन्तुष्ट करो। प्रभु अपने भीतर दीखें तो रस दो, बाहर दीखें तो सेवा करके सन्तुष्ट करो। जगत की ओर देखो तो प्रभु के नाते ही देखो। जगत के प्रति अपना जो कर्त्तव्य है उसका पालन करो। सब के काम आओ, किसी से कुछ मत चाहो। ऐसा करने वाले के लिए सारा जगत उदार हो जाता है। प्रभु प्रसन्न हो जाते हैं, उससे प्यार करते हैं। वह सन्त हो जाता है, भक्त हो जाता है, सदा के लिए सुखी हो जाता है। इसलिए या तो अपनी तरफ देखो या प्रभु की तरफ देखो, यही सब का सार है।

यदि हम असत्य को नहीं देख सके अथवा सत्य से अभिन्न और अपने कर्तव्य से परिचित नहीं हुए, तो समझना चाहिए कि हमने अपना निरीक्षण नहीं किया, अर्थात् अनन्त की अहैतुकी कृपा से प्राप्त विवेक का आदर नहीं किया, क्योंकि विवेक के आदर में ही अपने निरीक्षण की पूर्णता निहित है। अपना यथेष्ट निरीक्षण करने पर किसी अन्य गुरु या ग्रन्थ की आवश्यकता ही नहीं रहती, क्योंकि जिसके प्रकाश में सब कुछ हो रहा है, उसमें अनन्त ज्ञान तथा अनन्त शक्ति विद्यमान है। अपना निरीक्षण करते-करते प्राणी उससे अभिन्न हो जाता है, जो वास्तव में सब का सब कुछ होते हुए भी सबसे अतीत है। (मानवता के मूल सिद्धान्त से)

सन्त-पत्रावली

नई दिल्ली
ता० ३-४-५८
रात्रि ११॥ बजे

(१)

सत्य की जिज्ञासु स्नेहमयीं कर्त्तव्य निष्ठ प्रिय पुत्री,
सर्वदा शान्त तथा प्रसन्न रहो।

तुम्हारा २५-३-५८ का लिखा हुआ, सरलता तथा स्नेह से हरा-भरा पत्र मिला। तुम्हें चम्बल-तट पर, व्यक्तिगत रूप से सत्संग करने का अवकाश न मिल सका, यह जानकर मुझे खेद हुआ। पर क्या किया जाय, प्राणी परिस्थिति के अनुरूप ही कार्य कर सकता है। प्राप्त परिस्थिति के सदुपयोग में मानव-मात्र सर्वदा स्वाधीन है। परिस्थितियों के परिवर्तन में सभी पराधीन हैं। इस पराधीनता में भी प्राणी का विकास ही निहित है, क्योंकि यह अनन्त का मंगलमय विधान है। विधान के आदर में ही प्राणी का विकास है। इस दृष्टि से जो कुछ स्वतः हो रहा है उसमें प्रसन्न रहना ही हितकर है। पर इस रहस्य को वे ही साधक जान पाते हैं जिन्होंने मानव-जीवन के महत्त्व को भली-भाँति जान लिया है। प्रत्येक परिस्थिति साधन-सामग्री है, जीवन नहीं। साधन-सामग्री चाहे जैसी हो, उसके सदुपयोग से सफलता अवश्य होती है। जब मानव अपनी मांग को अपने ज्ञान से जान लेता है, तब परिस्थिति के अनुसार जो उस पर दायित्व है उसको अवश्य पूरा कर डालता है। दायित्व को पूरा करते ही मांग अपने आप पूरी हो जाती है। इस दृष्टि से अपनी मांग का ज्ञान और दायित्व को पूरा करना ही सफलता की कुंजी है। अपने जाने हुए असत् का त्याग ही वास्तव में सत् का संग है। सत् का संग होते ही असाधन का नाश और साधन की अभिव्यक्ति स्वतः हो जाती है और फिर साधक, साधन और साध्य में दूरी तथा भेद नहीं रहता, यह निर्विवाद सत्य है। विवेक-विरोधी कर्म, सम्बन्ध, तथा विश्वास के त्याग में ही कर्त्तव्य-परायणता, असंगता और शरणागति निहित है। कर्त्तव्य-परायणता से जीवन जगत् के लिए, असंगता से जीवन अपने लिए और शरणागति से जीवन प्रभु के लिए उपयोगी सिद्ध होता है, यह मानव जीवन की महिमा है। साधन-निर्माण के लिए कुछ काल उत्तर-प्रतिउत्तर अर्थात् व्यक्तिगत प्रश्नों को सामने रख कर परस्पर विचार-विनिमय करना अनिवार्य होता है।

इस कारण तुम अवकाश मिलते ही उचित व्यवस्था द्वारा कुछ दिन के लिए मेरे समीप आ जाओ। तुम लोगों के ठहरने आदि की व्यवस्था हो जायगी, ऐसा मेरा विश्वास है। जब तक साधन-निर्माण नहीं होता, तभी तक परस्पर विचार-विनिमय की अपेक्षा है। रुचि, योग्यता तथा सामर्थ्य के अनुरूप साधन-निर्माण होते ही वाह्य सत्संग की आवश्यकता नहीं रहती, साधक जो कुछ कर सकता है उसी से उसे सिद्धि मिल सकती है। इस मंगलमय विधान पर आस्था होने से प्रत्येक साधक निश्चिन्त तथा निर्भय हो जाता है। मेरी सद्भावना सदैव तुम्हारे साथ है। सभी प्रिय जनों को बहुत-वहुत मधुर स्नेह निवेदन करना। ता० ६–४–५८ को गीता-भवन, स्वर्गाश्रम (ऋषिकेश) पहुंचने की बात है और वहां लगभग दो मास ठहरना है। वहीं तुम आजाओ। पुनः तुमको बहुत-वहुत प्यार।

तुम्हारा.... ...

(२)

खुदा गंज
१०-७-५८

देहातीत प्रीति स्वरूपा दुलारी बेटी,

सर्वदा शान्त तथा प्रसन्न रहो। तुम किसी भी काल में शरीर नहीं हो, अपितु दिव्य चिन्मय प्रीति हो। प्रीति प्रीतम का ही स्वभाव है और कुछ नहीं। इस दृष्टि से तुम अनन्त की ही विभूति हो। अपने द्वारा अपनी विस्मृति से ही तुम अपने को ऐसा मानने लगी हो जो कभी भी नहीं हो। मानव-जीवन मंदभागी को नहीं मिलता। कारण कि मानव-जीवन अनन्त की अहैतुकी कृपा से निर्मित है। जब मानव अपने महत्त्व को भूल जाता है तब बेचारा वस्तु, अवस्था एवं परिस्थितियों का दास वन जाता है और फिर अपने में अनेक प्रकार के अभावों का आरोप कर पराधीनता तथा जड़ता में आबद्ध हो जाता है। यह अपना ही बनाया हुआ दोष है। निज विवेक के आदर में ही अविवेक का नाश है। अविवेक के अन्त में ही असाधन का अभाव है। असाधन के अभाव में ही साधन की अभिव्यक्ति स्वतः होती है, जिसके होते ही अपने साध्य में अगाध अनन्त नित-नव प्रियता जागृत होती है, जो प्रेमास्पद को रस देने में समर्थ है। अतः विवेकवती होकर जीवन की पूर्णता प्राप्त कर कृतकृत्य हो जाओ, यही मेरी सद्भावना है। परम प्रिय·········तथा अन्य सभी प्रिय जनों को बहुत-वहुत मधुर स्नेह निवेदन करना।

प्राप्त परिस्थिति के सदुपयोग में ही प्राणी का विकास है। कारण कि

प्रत्येक परिस्थिति मंगलमय विधान से निर्मित है। नीरसता का अन्त होने पर ही निर्विकारता की अभिव्यक्ति होती है। वर्तमान की सरसता ही नीरसता का अन्त करने में समर्थ है। वस्तुओं के अतीत के जीवन में अविचल आस्था ही वर्तमान को सरस बनाने में हेतु है। जहाँ रहो प्रसन्न रहो। वर्तमान कर्त्तव्य कर्म द्वारा प्रेमास्पद की पूजा करो और सर्वथा उन्हीं की प्रीति होकर रहो, यही सफलता की कुंजी है। पुनः तुमको वहुत-वहुत प्यार।

तुम्हारा

....



उदारता की प्रतिमूर्ति डिडेरो

• संकलित

फ्रांस में डिडेरो नाम के एक प्रसिद्ध विद्वान हो गये हैं। एक दफा एक यवक उनके पास आया। डिडेरो ने उससे पूछा—"भाई, तुम कौन हो?"

उस युवक ने कहा--"मैं एक लेखक हूँ और मैंने एक पुस्तक लिखी है। आप एक बड़े साहित्यकार हैं, इसलिए इसे छपवाने से पहले यह चाहता हूँ कि मेहरबानी करके आप यह देख दें कि यह पुस्तक ठीक लिखी गई है कि नहीं।"

डिडेरो ने कहा—"ठीक है। इस पुस्तक को तुम यहाँ रख जाओ, मैं इसे देख जाऊँगा। तुम इसे लेने के लिए कल ही आ जाना।"

दूसरे दिन वह युवक उस पुस्तक को लेने के लिए आया। इसलिए डिडोरे ने हँस कर कहा– "वाह भाई वाह, तुमने मुझे लक्ष्य में रख कर इस पुस्तक में मेरी खूब हँसी उड़ाई है। मुझे इस तरह गालियाँ देने से क्या तुम्हें कुछ लाभ मिलता है?"

युवक ने कहा--"हाँ जी, आपकी हँसी उड़ाने से मुझे लाभ हो सकता है। अभी तक मुझे अच्छी तरह लिखना भी नहीं आता। फिर मेरी पुस्तक को छापने के लिए भला कौन तैयार हो सकता है। पर मैं यह जानता हूँ कि इस देश में आपके विरोधियों की संख्या काफी है। वे आपको खुले आम धिक्कारते भी हैं। इसलिए मैंने सोचा है कि अगर आपकी हँसी उड़ाने वाली पुस्तक मैं लिखूँ, तो इसके द्वारा मुझे काफी कमाई हो सकती है। इसलिए इस पुस्तक में मैंने जान बूझकर आपका मजाक उड़ाया है।"

डिडेरो ने हँस कर कहा--"यह तो तुमने अच्छा किया। पर अब एक काम करो, इसे छपवाने के लायक रकम भी तो तुम्हें चाहिए न? मैं तुम्हें एक तरकीब बताता हूँ। एक आदमी के साथ मेरा धर्म की बावत मत-भेद है, इसलिए वह मुझ पर बड़ा नाराज है। यह पुस्तक अगर तुम उसे समर्पित कर दो, तो वह खुश होकर तुम्हें जरूरत की रकम दे देगा। इसके लिए एक अच्छी सी समर्पण-पत्रिका तुम्हें फौरन लिख डालनी चाहिए।"

उस युवक ने कहा--"मुझे इतनी अच्छी समपर्ण-पत्रिका लिखना कैसे आ सकता है?"

यह सुनकर डिडेरो ने कहा--"अच्छा, तो थोड़ी देर ठहर जाओ। मैं तुम्हें एक अच्छी-सी समर्पण-पत्रिका लिख देता हूँ, जिसे देखकर वह आदमी तुम्हें तुम्हारी जरूरत की रकम अवश्य दे देगा।"

यह कह कर डिडेरो ने तुरन्त उस युवक को समर्पण-पत्रिका लिख कर दे दी।



ऐसा कोई भी कार्य मत करो जिसको प्रकाशित नहीं कर सकते।

त्याग करने वाले का त्याग अवश्य कर दो।

एकनिष्ठा सफलता की सर्वोत्कृष्ट कुंजी है।

प्रश्न—व्यक्ति समाज के अधिकारों का अपहरण करता क्यों है ?

उत्तर—व्यक्ति समाज को अपने से भिन्न मान कर, स्वार्थान्ध होकर समाज के अधिकारों के अपहरण द्वारा, अपने को सबल बनाने का प्रयास करता है, परन्तु प्राकृतिक नियम के अनुसार दूसरे के अधिकारों का अपहरण करने वाला व्यक्ति स्वयं ही निर्बल हो जाता है और इस प्रकार वह न स्वयं सुन्दर बन पाता है और न उसके द्वारा सुन्दर समाज का ही निर्माण होता है।

सुन्दर समाज के निर्माण का दायित्व मानव-मात्र पर है, किसी वर्ग-विशेष पर नहीं। जब व्यक्ति कर्तव्य से च्युत हो जाता है तभी समाज में भिन्न-भिन्न प्रकार के विप्लव मचने लगते हैं।

"जीवन-दर्शन"

संघ का मुख-पत्र

आवश्यक नियम

१—'जीवन-दर्शन' प्रत्येक मास के दूसरे सप्ताह में प्रकाशित हुआ करेगा। इसका वर्ष १ जनवरी से ३१ दिसम्बर तक रहेगा। बीच में ग्राहक बनने वालों के लिये भी वर्ष १ जनवरी से ही प्रारम्भ होगा।

२—पत्र का उत्तर तथा लेख वापस पाने के लिये आवश्यक डाक-टिकट भेजें। पत्र-व्यवहार करते समय कृपया अपनी ग्राहक-सख्या अवश्य लिखें।

३—पता बदलने के लिए एक मास पूर्व लिखना चाहिए।

४—जीवन-दर्शन-सञ्चालन की योजना को सफल बनाने के लिए जो महानुभाव अपने सामर्थ्य के अनुसार १०१), २५१), ५०१) या ११०१) रु० प्रदान करेंगे, वे इसके संस्थापक सदस्य कहलायेंगे। उनकी सेवा में पत्रिका आजीवन भेंट-स्वरूप, निःशुल्क भेजी जाती रहेगी।

उक्त रकमें एक वर्ष की अवधि में किश्तों में भी पूरी की जा सकती हैं।

५—पत्रिका सम्बन्धी सारा पत्र-व्यवहार निम्नलिखित पते से करना चाहिए।

व्यवस्थापक :
'जीवन-दर्शन' कार्यालय,
मानव सेवा सङ्घ, वृन्दावन (मथुरा)

वार्षिक मूल्य : ५ रुपये] [एक प्रति का : ४५ पैसे

मुख्य सम्पादक : हनुमन्तसिंह

License No. 60 Regd No. L—564
Licensed to post wihout pre-payment.

मानव सेवा संघ के प्रकाशन

क्रमांक पुस्तकों के नाम (हिन्दी)	पृष्ठ संख्या	मूल्य
१ सन्त समागम भाग १	२५७	१-५०
२. सन्त समागम भाग २	३५७	२-००
दोनों भाग एक साथ सजिल्द	—	४-००
३. मानव की माँग	२४४	२-००
४. जीवन दर्शन	३४१	२-५०
५. चित्त शुद्धि (सजिल्द)	४६०	३-००
६. साधन तत्त्व	१०४	१-२५
७. सत्सङ्ग और साधन	९९	१-००
८. जीवन पथ (छप रहा है)	१४०	१-२५
९. मानवता के मूल सिद्धान्त	१३४	०-५०
१०. दर्शन और नीति	१४४	१-५०
११ दुःख का प्रभाव	१२६	१-२५
१२. मानव सेवा संघ-परिचय	४८	०-१५
१३. मूक सत्सङ्ग और नित्य योग	२०९	१-७५
१४. मानव दर्शन	१९०	१-७५
१५. मङ्गलमय विधान	७०	०-७५
१६. साधन निधि	१४९	सदुपयोग
१७. A Saint's Call To Mankind (Cloth Bound)	174	3-00
१८. A Saint's Call To Mankind (Stiff Board Bound)	174	2-25
१९. Sadhana-Spotlights by a Saint.	72	1-25

कमीशन के नियम—

१—संघ द्वारा प्रकाशित पुस्तकों के पूरे सेट पर १२½% प्रतिशत कमीशन दिया जायगा।

२—१० रुपये मूल्य की पुस्तकों पर ५ प्रतिशत।
५० रुपये मूल्य की पुस्तकों पर २० प्रतिशत।
१०० रुपये मूल्य की पुस्तकों पर २५ प्रतिशत।

मुद्रक व प्रकाशक—श्री गोविन्दजी, भू. पू. प्रधान मन्त्री, मानव सेवा सङ्घ के लिए हर्षगुप्त द्वारा राष्ट्रीय प्रेस, डैम्पियर नगर, मथुरा में मुद्रित।